उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो।

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द-भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—५ अप्रैल—१९८६ अंक—४

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल 'विवेक शिखा'॥

संपादक

डॉ० केदारनाथ लाभ

सहायक संपादक

शिशिर कुमार मल्लिक

श्याम किशोर

संपादकीय कार्यालय :

रामकृष्ण निलयम्

जयप्रकाश नगर,

छपरा—८४१३०१

(बिहार)

सहयोग राशि

आजीवन सदस्य	२५० रु०
षड् वार्षिक	१०० रु०
त्रैवार्षिक	५५ रु०
वार्षिक	२० रु०
एक प्रति	२ रु० ५० पैसे

रचनाएँ एवं सहयोग - राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

पत्थर पर कीला ठोंकने से वह अन्दर नहीं जाता, परन्तु जमीन में आसानी से चला जाता है; इसी प्रकार सत्पुरुषों का उपदेश बद्धजीवों के हृदय में प्रवेश नहीं कर पाता, किन्तु विश्वासी व्यक्तियों के हृदय में सरलता के साथ गहराई तक चला जाता है।

(२)

सूर्य वैसे तो सारे संसार को प्रकाश और ताप देता है, पर यदि वह मेघ से आच्छन्न हो जाए तो ऐसा नहीं कर पाता। इसी भाँति जब तक हृदय अहंकार के आवरण से आच्छादित रहता है तब तक उसमें भगवान् प्रकाशित नहीं हो पाते।

(३)

जो आदमी बहुत ज्यादा बड़बड़ करता है, जो सब बातें पेट में ही छिपा रखता है, जो कान में तुलसीपत्र लगाकर धार्मिकता का ढोंग रचता है, जो औरत बहुत लम्बा घूँघट काढ़ती है, और जिस तालाब में काई छा गयी हो उसका ठण्डा जल, ये सब बहुत हानिकारक होते हैं। इनसे सावधान रहना चाहिए।

(४)

जिसने एक बार असल मिश्री का स्वाद चखा है, उसे क्या सस्ते गुड़ का स्वाद भाएगा? जो एक बार ऊँची अटारी में सो चुका है, क्या उसे फिर गन्दी झोपड़ी में सोना अच्छा लगेगा? इसी तरह, जिसने एक बार ब्रह्मानन्द का स्वाद चखा है, वह क्या कभी तुच्छ विषयानन्द में रममाण हो सकेगा?

(५)

लज्जा, घृणा और भय—इन तीनों के रहते भगवान् का लाभ नहीं होता।

श्रीरामकृष्ण वचनावली

—श्री द्वारका प्रसाद शर्मा
वृन्दावन।

कर गुरु-प्रभु-पद वन्दना, धर मन भक्ति अनूप।
रामकृष्ण वचनावली, कहता मति अनुरूप ॥१॥

मन में धर गुरु-रूप निज, पा प्रभुकृपा अपार।
सरल छन्द में कह रहा, वचनामृत का सार ॥२॥

नत हो श्रीगुरु-चरण में, माँग रहा वरदान।
रामकृष्णवचनावली, करूँ नित्य मैं गान ॥३॥

रामकृष्ण वचनावली, प्रेम-भक्ति-रस युक्त।
पठन-मनन-अनुकरण से, जन-मन हो भय-मुक्त ॥४॥

संन्यासी औ गृही जन, ज्ञानी-योगी-भक्त।
पथ दर्शिनि वचनावली इन सबकी हर वक्त ॥५॥

करते ही हरिनामोच्चारण, बहे आँसुओं की धारा।
तब समझो सन्ध्या वन्दन का, मिले कर्म से छुटकारा ॥ १ ॥

मनुज यन्त्र है तुम हो यन्त्री, मानव रथ तुम रथी विभो।
सब जग चलता-करता-रहता, जैसा चाहें स्वयं प्रभो ॥ २ ॥

प्रभु दर्शन मानव जीवन का, है केवल उद्देश्य सही।
करे साधना शुद्ध हृदय से, प्राप्त करेगा उसे वही ॥ ३ ॥

काम-क्रोध मिट्टी, मन लोहा, ईश्वर है मानो चुम्बक।
खिंच न सके चुम्बक से लोहा, मिट्टी है उस पर जब तक ॥ ४ ॥

जिसे हुए प्रभु दर्शन उसका, बुरा कुसंग न कर पाता।
झखर अग्नि में गिरने पर ज्यों, कदली तरु भी जल जाता ॥ ५ ॥

विद्या और अविद्या दोनों, अंश हैं महामाया के।
प्रभु-पथ पर विद्या ले जाती, मानव भ्रमित अविद्या से ॥ ६ ॥

कामिनि-कांचन के इस जग में, रखने से मन बने अपावन।
भक्ति-ज्ञान-वैराग्य पाय मन, करके निर्जन में प्रभु-चिन्तन ॥ ७ ॥

तनिक कामना रहने पर भी, मनुज नहीं पा सकता ईश्वर।
रेशा रहने से धागा ज्यों, जाता नहीं सुई के भीतर ॥ ८ ॥

तुच्छ जीव का 'सोऽहम्' कहना, करता झूठ उजागर।
सागर की तरंग होती है, नहीं लहर का सागर ॥ ९ ॥

प्रभु का ध्यान करो निज मन में, या कोने में, वन में।
नहीं लगेगा ईश्वर में मन, बिना गये निर्जन में ॥ १० ॥

सम्पादकीय सम्बोधन

भए प्रगट कृपाला

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,

यह अखिल विश्व-ब्रह्मांड जिन परब्रह्म परमात्मा से उन्मेषित होकर उन्हीं में स्थित रहता और पुन: उन्हीं में लयीभूत हो जाता है, वे करुणासागर ही भक्तों की चिर अतृप्त लालसा की पूर्ति और लोक मंगल के लिए जब-तब इस धराधाम पर शरीर धारण कर प्रकट हो जाया करते हैं। कुछ दिनों तक अपनी लीला के द्वारा एक लोक-आदर्श की स्थापना कर पुन: वे अपने 'स्व' में लौट जाते हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्ण, बुद्ध, महावीर, चैतन्य, श्रीरामकृष्ण आदि ब्रह्म के ही विभिन्न कालों में अभिव्यक्त स्वरूप हैं।

त्रेता युग। पावन चैत का महीना। नवमी तिथि। शुक्ल पक्ष। महत्तम मुहूर्त। दोपहर का समय। न अधिक धूप, न अधिक ठंढ़। शीतल मंद सुरभित समीर बह रहा था। देवगण हर्षित थे। संतों का समुदाय उल्लसित। वनों के वृक्ष नाना प्रकार के सुमनों के संभार से लदे-झके थे। पर्वतों का समूह मणियों की भाँति चमक रहा था। नदियाँ मानो अमृत की धारा प्रवाहित कर रही थीं। आकाश देवताओं से भर गया था। गन्धर्व गान करने लगे और अँजुरियों में भर-भर कर पुष्पों की वर्षा करने लगे। ऐसी माहेन्द्र वेला थी! ऐसी पावन-मनोरम घड़ी थी! और तभी—

'जग निवास प्रभु प्रगटे अखिल लोक विश्राम।'

अखिल लोकों को परम विश्राम, अक्षय शान्ति देनेवाले विश्वाधार प्रभु श्रीरामचन्द्र अयोध्या में प्रकट हुए।

रामनवमी परब्रह्म के भगवान् श्रीरामचन्द्र के रूप में अवतरण की, प्राकट्य की पुण्य-पावन तिथि है।

भगवान् जन्मे नहीं। प्रकट हुए। जन्मे क्यों नहीं? प्रकट क्यों हुए? क्या रहस्य है इसमें? रहस्य है। जन्म उसका होता है, जिसकी मृत्यु होती है। सृजन उसका होता है, जिसका संहार होता है। निर्माण उसका होता है, जिसका विनाश होता है। जो नित्य है, अखंड है, शाश्वत और सनातन है उसका जन्म हो ही नहीं सकता। उसका तो केवल प्रकटीकरण होता है। उसका तो केवल अवतरण होता है। आविर्भाव होता है। इसीसे गोस्वामी तुलसी दास जी ने कहीं भी श्रीराम के जन्म का उल्लेख मानस में नहीं किया है। वे उनके प्राकट्य की कथा कहते हैं। —जग निवास प्रभु प्रगटे अखिल लोक विश्राम। भगवान् के प्रकट होने पर उनके विलक्षण अद्भुत रूप का विचार कर माता कौशल्या हर्षोल्लास से दुहरी—तिहरी हो गयीं—

भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौशल्या हितकारी।
हरषित महतारी मुनि मन हारी अद्भुत रूप बिचारी॥

कौशल्या के हितसाधक दीनदयालु प्रभु प्रकट हुए। यह प्रभु का प्रकट होना बड़ा अद्भुत है। अनेक साधक कई प्रकार की साधनाएँ करते हैं, प्रभु को अपने समक्ष प्रकट करने के लिए। प्रभु तो सर्वत्र हैं, किन्तु भक्त इस तथ्य से संतुष्ट नहीं होते। हमलोग जानते हैं कि स्वयं श्रीरामकृष्ण ने परब्रह्म को माँ के रूप में प्रत्यक्ष देखने के लिए कितनी विकलता से विकट साधना की थी। स्वामी विवेकानन्दजी को भी आरम्भ में जो एक प्रकार मथता रहता था वह यही था कि प्रभु हैं या नहीं और अगर हैं तो किसी ने उन्हें देखा है या नहीं? जब प्रश्न का सकारात्मक उत्तर उन्हें भगवान् श्रीराम से मिल गया तब वे स्वयं यह चाहने लगे कि वे भी

का प्रत्यक्ष अनुभव कर सकें—आमने-सामने देख सकें। श्रीरामकृष्ण ने उनसे कहा था—'ईश्वर हैं और मैंने उन्हें देखा है। ठीक वैसे ही जैसे मैं तुम्हें और तुम मुझे देख रहे हो। बल्कि इससे अधिक स्पष्टता से। लेकिन कौन उन्हें देखना चाहता है? हम बाल-बच्चों के लिए, रुपये पैसों के लिए सैकड़ों घड़े आँसू बहा देते हैं पर प्रभु के लिए कौन एक कतरा भी आँसू बहाना चाहता है?

प्रभु प्रकट होते हैं, अगर हमारे भीतर तीव्र आकांक्षा हो, प्रभु का दर्शन पाने की।

प्रभु प्रकट होते हैं, अगर हम निरहंकृत होकर, नदी में डूबते हुए मनुष्य की विकलता लेकर उन्हें पुकारें। उनसे आत्मिक प्रेम करें।

प्रभु प्रकट होते हैं, यदि हम अपने मन की एकाग्रता के साथ उनका ध्यान-चिन्तन करें।

रामचरित-मानस में हम देखते हैं कि जब देवतागण इस प्रश्न पर विचार करने लगे कि भगवान् को कहाँ पाया जा सकता है तब अंत में वे भगवान् शंकर के पास पहुँचते हैं और अपनी जिज्ञासा व्यक्त करते हैं। भगवान् शंकर उनसे कहते हैं—

देस काल दिसि विदिसिहु माहीं।
कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं॥

बताओ प्रभु कहाँ नहीं हैं? देस, काल, दिक् इनमें कहाँ प्रभु नहीं हैं? किन्तु, देवताओं को इतने से संतोष कहाँ? यदि प्रभु सर्वत्र हैं तो दिखते क्यों नहीं? वे प्रकट क्यों नहीं होते? तो शिवजी उत्तर देते हैं—

अगजगमय सब रहित विरागी।
प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥

जैसे लकड़ी में आग सर्वत्र व्याप्त है, किन्तु घर्षण करने पर वह प्रकट होती है, वैसे ही सर्वत्र व्याप्त प्रभु भक्त के प्रेम के संघर्षण से प्रकट हो जाते हैं।

राम जब कौशल्या के गर्भ से प्रकट होते हैं तब एक विचित्र बात हो जाती है। कौशल्या का चित्त चंचल हो उठता है। वे कहती हैं—

ब्रह्माण्ड निकाया निर्मित माया रोम-रोम प्रति बेद कहै।
मम उर सो बासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै॥

कौशल्या की चिन्ता यह है कि जिस ब्रह्म के रोम-रोम में माया द्वारा रचित कई-कई ब्रह्माण्ड समाये हुए हैं वह मेरे गर्भ में कैसे रह सका? इस ज्ञान के होते ही प्रभु ने मुस्कुरा दिया और माता कौशल्या को समझाया कि वे उनके वात्सल्य प्रेम के लिए लालायित हैं—

उपजा जब ज्ञाना प्रभु मुसुकाना
चरित बहुत बिधि कीन्ह चहै।

कहि कथा सुहाई मातु बुझाई
जेहि प्रकार सुत प्रेम लहै॥

तो यह पहली बात है। प्रभु प्रेम से प्रकट होते हैं। एक और प्रसंग है। लंका विजय के बाद जब राम अयोध्या वापस आते हैं तब अयोध्या की सारी जनता उनके दर्शनों को उमड़ पड़ती है। इतनी बड़ी भीड़ और हर व्यक्ति की यह इच्छा कि वह सबसे पहले प्रभु के निकट पहुँच जाय।

प्रेमातुर सब लोग निहारी,
कौतुक कीन्ह कृपालु खरारी।
अमित रूप प्रगटे तेहि काला,
जथा जोग मिले सबहि कृपाला॥

सारे लोग प्रेमातुर होकर श्रीराम को निहारना चाहते हैं और तब श्रीराम ने अपने को अनेक राम बनाकर प्रकट कर दिया और एक-एक से एक ही बार मिले। प्रभु अनेक रामों के रूप में प्रकट हुए। लेकिन कब? जब सारे लोग प्रेमातुर होकर उन्हें देखना चाहते थे। जरूरत है प्रेमातुर होने की। प्रेमातुर होकर उन्हें निहारने की इच्छा की। यानी यदि आप प्रभु के वास्तविक प्रेमी हैं, आपमें शुद्धाभक्ति है, प्रेमाभक्ति है तो प्रभु आपके समक्ष अभी इसी क्षण प्रकट हो जायंगे।

लेकिन यह माया का आवरण जब तक जीव के ऊपर पड़ा रहेगा, प्रभु के प्रकटीकरण में एक बाधा बनी रहेगी। श्रीराम वन जा रहे हैं। आगे-आगे वे चल रहे हैं। उनके पीछे सीताजी हैं। और सबसे पीछे लक्ष्मण। लक्ष्मण राम के निकट ही हैं, बल्कि साथ ही चल रहे हैं, किन्तु वे राम को देख नहीं पाते। कारण, उनके सामने, उनके आगे-आगे जानकीजी हैं, माया हैं। तुलसीदासजी कहते हैं—

आगे रामु लखनु बनें पाछें।
तापस बेष विराजत काछें॥
उभय बीच सिय सोहति कैसें।
ब्रह्म जीव बिच माया जैसें॥

लक्ष्मण जीव हैं। सीताजी माया। राम ब्रह्म। जब जीव के आगे माया होती है तब जीव प्रभु को नहीं देख पाता। जब जीव माया के आगे हो जाता हैं और माया उसके पीछे रह जाती है तब वह प्रभु का साक्षात् दर्शन करता है। यही वेद है। यही रहस्य है। जीव के सामने खड़ी माया की दीवार झड़ जाय तो प्रभु को प्रकट होने से कौन रोक सकता है?

अगर आप योगी हैं तो भी प्रभु आपके सामने प्रकट होंगे। क्या विधान है उसका? एक प्रसंग देखिए। जनकपुर वाटिका में गिरिजापूजन के लिए जानकीजी जाती हैं। श्रीराम भी अपने गुरु के लिए पुष्प चयन करने गये हैं। सीता की सखियों ने राम-लक्ष्मण को देखा है। वे सीता से राम के रूप का वर्णन कर उनकी एक झलक दिखा देती हैं। और सीता—

लोचन मग रामहि उर आनी।
दीन्हें पलक कपाट सयानी॥
लता भवन तें प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग विमल विधु जलद पटल विलगाइ॥

श्रीसीता ने आँखों के रास्ते से श्रीरामचन्द्र को अपने हृदय में प्रतिष्ठित कर अपनी पलकों की किवाड़ लगा दी। और उसी समय दोनों भाई लता-मण्डप में से प्रकट हो गये। जैसे बादलों के पर्दे को हटाकर दो निर्मल चन्द्र प्रकट हुए हों। बड़े पते की बात यहाँ कही गयी है। श्री जानकी ने राम को हृदय पट पर रखकर आँखें मूँद लीं। अर्थात् वे ध्यानस्थ हो गयीं। आँखें मूँदकर श्रीराम का ध्यान करने लगीं। योगस्थ हो गयीं।

हमें अपने हृदय-कमल पर अपने आराध्य को पहले प्रतिष्ठित करना होगा और फिर पूरी एकाग्रता से ध्यान करना होगा। ऐसा करते ही निर्मल चन्द्र की भाँति हमारे आराध्य हमारे समक्ष लताकुंज से निकलकर आ उपस्थित होंगे। अर्थात् अज्ञान के लताकुंजों को चीर-कर आराध्य प्रकट हो जायँगे। यही ध्यान की प्रक्रिया है। जो थोड़ा-बहुत भी ध्यान करते हैं, वे जानते हैं कि अपने आराध्य की छवि पहले चित्-पद्म पर हम प्रति-ष्ठित करते हैं। फिर आँखें मूँदकर उनका ध्यान करते हैं।

ध्यान ज्यों ही एकाग्र, सघन और अविचल होता है, हमारे चिदाकाश में हमारे आराध्य निर्मल चन्द्र की कोटि-कोटि आभाओं के साथ प्रकट हो जाते हैं। हम आनन्द के सुधा-सिन्धु में डूब जाते हैं। इसलिए प्रभु के प्राकट्य की यह ध्यान-साधना भी एक सबल प्रक्रिया है।

यदि आप ज्ञानी हैं तब अपने को शरीर, मन, बुद्धि अहंकार से परे मानकर अपने को शुद्ध आत्मा के रूप में जानना होगा। और तब प्रभु में और आप में कोई भिन्नता ही नहीं प्रतीत होगी। सारा विश्व-ब्रह्मांड ही प्रभुमय दीखने लगेगा। आप विश्व में व्याप्त ब्रह्म के साथ तदाकार हो जायँगे। श्रीराम ने एक बार जब श्री हनुमान से पूछा कि मुझसे तुम्हारा क्या नाता है, तब उन्होंने सविनय कहा—

देह बुद्ध्या त्व दासोऽहम् जीव बुद्ध्या त्वमंशकः।
आत्मबुद्ध्या त्वमेकोऽहम् इति मे निश्चिता मतिः॥

श्री हनुमानजी ने कहा कि हे प्रभो, जब मैं अपने को शरीर-भाव से देखता हूँ तब आप मेरे स्वामी और

मैं आपका दास हूँ। जब मैं अपने को जीव-भाव से देखता हूँ तब मैं स्वयं को आपका ही अंश मानता हूँ। किन्तु जब मैं अपने को आत्मरूप में देखता हूँ तब ऐसा प्रतीत होता है कि आपमें और मुझमें कोई अन्तर नहीं है, कोई भेद नहीं है। यह मेरा निश्चित विश्वास है।

अतः यदि आप भक्त हों, या योगी हों या ज्ञानी, किसी भी रूप में आपके समक्ष प्रभु प्रकट होने को प्रस्तुत हैं। आवश्यकता केवल इसी बात की है कि आप सच्चे भक्त हों, सच्चे योगी हों, सच्चे ज्ञानी हों। प्रभु के मन्दिर में छल से नहीं पहुँचा जा सकता। वहाँ कपटता नहीं चलती। दुहरापन नहीं चलता। श्रीरामकृष्ण कहते थे, साँप सर्वत्र टेढ़ा चलता है पर बिल में सीधा होकर ही जाता है। अतः प्रभु के यहाँ सीधा होकर ही पहुँचा जा सकता है। तुलसीदासजी भी कहते हैं—

रामहि सुमिरिअ गाइअ रामहि।
संतत सुनिअ राम गुनग्रामहि॥
जासु पतित पावन बड़ बाना।
गावहि कवि श्रुति संत पुराना।
ताहि भजहि मन तजि कुटिलाई॥

मन की कुटिलता का, छल का त्याग कर हमें राम का ध्यान, उनके नाम का जप, उनके पावन चरित का अनुसरण करना चाहिए। इससे वे हमारे समक्ष प्रकट होंगे।

भगवान् श्रीराम या भगवान् श्रीरामकृष्ण किसी काल की सीमा में बँधे नहीं हैं। वे शाश्वत हैं, चिन्मय हैं, सच्चिदानन्द हैं। हम अमल भक्ति, निर्मल प्रेम, गंभीर जप-ध्यान, अनासक्त कर्म तथा दृढ़ ज्ञान इनमें से एक या अनेक या सबके द्वारा सदा और सर्वत्र, यहाँ और इसी क्षण अपने परामाराध्य प्रभु का प्रकट रूप से साक्षात्कार कर सकते हैं। इन्हीं प्रभु से मेरी प्रार्थना है कि हमें भक्ति, योग, ज्ञान और कर्म में इस प्रकार प्रतिष्ठित कर दें कि हम उन्हें प्रकट रूप में प्रत्यक्ष निहार कर धन्य हो सकें। जय श्रीराम! जय श्रीरामकृष्ण!!

●

त्याग और संन्यास

श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्दजी महाराज
सहाध्यक्ष, रामकृष्ण मठ एवं मिशन

(प्रस्तुत निबंध दिनांक २३. ९. ८४ को श्री रामकृष्ण मठ, हैदराबाद में रामकृष्ण मठ और मिशन के सहाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज द्वारा प्रदत्त अँग्रेजी व्याख्यान का हिन्दी रूपान्तर है, जो अँग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के सितम्बर १९८५ अंक से साभार अनूदित हुआ है। अनुवादक हैं—**श्री रामेश्वर यादव, पटना**)

हमारे शास्त्रों में त्यागमय जीवन पर प्रचुर बल दिया गया है। चरम उद्देश्य की प्राप्ति हेतु किये गये आध्यात्मिक प्रयासों की यह पराकाष्ठा ही समझी गयी है। हालाँकि 'संन्यास' नाम से विदित सर्वस्व-त्याग के संबंध में भिन्न-भिन्न लोगों की भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं। वैदिक साहित्य में चार आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वान-

प्रस्थ और संन्यास) का उल्लेख किया गया है, जिसमें संन्यासाश्रम को शीर्षस्थ माना गया है। फिर 'विद्वत् संन्यास' नाम से इसकी व्याख्या आध्यात्मिक अनुभूति की अवस्था के रूप में भी की गयी है। जब कोई व्यक्ति आत्मज्ञान (Enlightenment) की उच्चावस्था में पहुँच जाता है तो वह विशिष्ट प्रकार का आचरण करने लगता है और यह अवस्था संन्यास की अवस्था समझी जाती है। उपर्युक्त संन्यास-आश्रम से यह पृथक् है क्योंकि संन्यास-आश्रम में शास्त्रों के आदेशानुसार चलना पड़ता है। यह वैसी अवस्था है जिसमें व्यक्ति किसी भी आश्रम में रहते हुए पहुँच सकता है। गीता में संन्यास निम्नलिखित शब्दों में बड़े ही सुन्दर ढंग से वर्णित हुआ है, "स्वार्थ से प्रेरित समस्त कर्मों का त्याग ही बुद्धिमान पुरुषों के द्वारा संन्यास नाम से कहा गया है।" जबतक अहं का लोप नहीं हो गया है, जबतक हम अपने आप को शरीर के रूप में सोचते हैं, अपने आपको दूसरों से पृथक् मानते हैं, तबतक आत्मा संबंधी अपनी धारणाओं को संकीर्ण कर रखते हैं और ये संकीर्ण धारणाएँ हमें स्वार्थ-पूर्ति के लिए कुछ भी करने के लिए प्रेरित करती रहती हैं। इस प्रकार के संकीर्ण स्वार्थपरक विचारों का त्याग ही संन्यास कहा जाता है।

संन्यास का अर्थ समस्त कर्मों का त्याग नहीं है, जो असंभव भी है। भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं, "कोई भी व्यक्ति क्षणभर के लिए भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता है।" हमारे पास भौतिक शरीर है और इसकी रक्षा के लिए कर्म करना ही पड़ेगा। भले ही तुम चुपचाप बैठे हो और कुछ नहीं कर रहे हो, फिर भी आचार्य शंकर के मत में तुम निष्कर्मण्यता की अवस्था में नहीं हो। तुम्हारा यह सोचना ही कि 'मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ'—अपने आप में एक कर्म है। चूँकि तुम शरीर का अध्यारोप आत्मा पर करते हो, इसीलिए शरीर की कर्मविहीनता का अध्यारोप आत्मा पर हो जाता है जो सभी प्रकार की सीमाबद्धताओं से मुक्त है। तुम जब कभी शांतचित्त होकर बैठते हो, तभी कहने लगते हो कि 'मैं क्रियारहित हूँ। मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ।' मानो कि यह एक उपलब्धि है। लेकिन आचार्य शंकर स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि यह कोई उपलब्धि नहीं है, बल्कि अपने आपको धोखा देना है।

कोई व्यक्ति शारीरिक या मानसिक कर्म नहीं करने मात्र से ही नैष्कर्म्य की स्थिति को नहीं प्राप्त कर लेता है, क्योंकि वह किसी भी समय बिना कर्म किए नहीं रह सकता है। अपने आपको कर्म-रहित सोचना ही अपने आप में एक कर्म है, शारीरिक अवस्था का आत्मा पर अध्यारोप है जो सभी उपाधियों (conditions) से मुक्त है। यही बात समझने योग्य है। दुर्भाग्यवश संन्यास एवं शास्त्रों के एतत् संबंधी अभिप्रायों के संबंध में हमारी भ्रान्त धारणाएँ ही हमारी तबाही (Undoing) का कारण रही हैं। शायद, सदियों से हम इन गलत धारणाओं के शिकार हैं। श्री रामकृष्ण के अनुसार गीता का अंतिम संदेश 'त्याग' है। किस चीज का त्याग? त्याग का अर्थ कर्म-त्याग नहीं है, क्योंकि एक ओर तो यह असंभव है और दूसरी ओर यह वांछित भी नहीं है। न हमें सभी कर्मों का त्याग कर देना चाहिए और न उद्देश्य-विहीन कर्म करके सोचना चाहिए कि हम कर्मरत हैं। श्रीरामकृष्ण इस बात पर बल देते थे कि बिना त्याग के कोई उपलब्धि नहीं हो सकती। गृहस्थ और संन्यासी दोनों के लिए त्याग अत्यन्त ही महत्त्व-पूर्ण है।

अब यह विचारणीय विषय है कि क्या संन्यासीगण जो सर्वस्व का त्याग कर चुके हैं, उन्होंने वास्तव में सभी कर्मों का भी त्याग कर दिया है? कभी-कभी हम सभी कर्मों से पृथक् रहने में गर्व का अनुभव करते हैं। क्या ऐसी अवस्था की आवश्यकता है? क्या इसका मतलब कोई उपलब्धि है? यही बात समझने योग्य है। और गीता का संदेश इस संबंध में सही समझ प्रदान करता है। वेद एवं अन्य शास्त्रों का इस संबंध में गलत अर्थ लगाया गया है। एक समय में ऐसा समझा जाता था कि अनन्त और शाश्वत आनन्द प्राप्ति के साधन

रूप में वैदिक यज्ञ-याग, बलि, तप आदि आदर्शों की ही शिक्षा वेद देता है। लेकिन गीता में एक उक्ति है जो इस तरह के विचारों का सीधा खंडन करती है। इहलौकिक एवं पारलौकिक सुख-प्राप्ति के उद्देश्य से वैदिक अनुष्ठानों के आयोजन की श्रीकृष्ण ने तीव्र भर्त्सना की है और उनके मतानुसार जिन लोगों की ऐसी भ्रान्त धारणाएँ हैं वे शास्त्रों के सही मर्म को नहीं समझते हैं। अर्जुन को भय था कि युद्ध और विनाश से संचित पाप के कारण उसके आध्यात्मिक जीवन का अंत हो जायगा। लेकिन श्रीकृष्ण अत्यन्त सावधानी पूर्वक इस बात को समझाते हैं कि कर्म अपने-आप में अच्छा या बुरा नहीं है, बल्कि कर्म के पीछे निहित भावना ही मुख्य है। यदि तुम किसी कर्म को कर्त्तव्य समझकर बिना किसी स्वार्थ-भावना से प्रेरित हुए करते हो तो वह कभी पाप का कारण नहीं बन सकता। अगर किसी को अप्रीतिकर कर्त्तव्य-कर्म का पालन करना पड़े तो क्या करना चाहिए? ऐसी स्थिति में कर्त्तव्य र करना चाहिए लेकिन स्वार्थरहित और अनासक्त ाकर। गीता में हम पढ़ते हैं, "जिस प्रकार भौतिक सुख की चाह रखने वाले लोग अपने-आप को कर्म में मन-प्राणों से संलग्न करते हैं उसी प्रकार ज्ञानी भी अपने-आपको कर्म में लगाते हैं।" अन्तर इतना ही है कि आसक्त पुरुष अपनी स्वार्थ पूर्त्ति के लिए कर्म करता है जबकि ज्ञानी पुरुष जगत् के कल्याण के उद्देश्य से अनासक्त होकर कर्म करते हैं। लोग सोचते हैं कि स्वार्थ-रहित होकर कोई कर्म नहीं किया जा सकता है। प्रत्येक कार्य के पीछे एक उद्देश्य होता है और वह एक-मात्र स्वार्थ-पूर्त्ति के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं हो सकता है। लेकिन श्रीकृष्ण कहते हैं कि आत्मज्ञानी पुरुष अपने-आप को किसी स्वार्थ-भावना से संचालित होने वाला नहीं समझता है।

हाड़-मांस के इस शरीर के साथ तादात्म्य कर रखने के कारण हम अपने-आप को क्षुद्र जीव समझने लगते हैं और फिर स्वार्थ-पूर्त्ति के लिए कर्म करते हैं। लेकिन जब व्यक्ति ज्ञान-सम्पन्न हो जाता है तो वह अपने-आप को ससीम शरीर के साथ एक नहीं समझकर सर्व-व्यापी समझने लगता है। संन्यास के संबंध में गीता की ठीक यही शिक्षा है। संन्यास का मतलब अपने कर्त्तव्य कर्म से च्युत होना नहीं है, जो किसी खास उद्देश्य की प्राप्ति नहीं कराएगा। अतएव, गीता कभी भी कर्म-विहीनता का समर्थन नहीं करती है। स्वामी विवेका-नन्द ने कहा है कि गीता प्रचण्ड क्रियाशीलता के मध्य अत्यन्त शांतिशीलता का उपदेश करती है। वे अपने संदेश को 'व्यावहारिक वेदान्त' की संज्ञा देते हैं। वेदान्त की शिक्षा हमारे देश में अति प्राचीन काल से ही दी जा रही है। यहाँ एक साधारण अशिक्षित व्यक्ति में भी वेदान्त की कोई-न-कोई आश्चर्यजनक विशेषता दिखाई देगी जिसको उसने किसी-न-किसी प्रकार से ग्रहण कर लिया है। मानो वेदान्त यहाँ की हवा में व्याप्त है; लेकिन हम वेदान्त के कुछ मूलभूत सिद्धांतों को या तो भूल गये हैं या उसकी गलत व्याख्या कर दी है। इस प्रकार का भ्रान्ति युक्त वेदान्त व्यर्थ है। यह न तो हमारी भलाई कर सकता है और न दूसरों की। यह वह वेदान्त नहीं है जिसकी शिक्षा शास्त्रों में दी गयी है और खासकर गीता में जिस पर विशेष बल दिया गया है।

गीता वेद की पहली व्याख्या है। गीता के पूर्व हमें वेद की ऐसी स्पष्ट व्याख्या प्राप्त नहीं थी। वेद में विभिन्न प्रकार के बलिदानों एवं आनुष्ठानिक प्रक्रियाओं का प्रावधान है। वेद का एक अच्छा-खासा भाग इन सारी बातों से संबंध रखता है। लेकिन बीच-बीच में कहीं-कहीं हम ऐसी बातों का भी उल्लेख पाते हैं जो व्यक्ति को आत्मा की शिक्षा देती हैं। गीता में इन सारी शिक्षाओं को एकत्रित किया गया है। मनुष्य आत्मा के रूप में अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जानता है। अपने आप को शरीर मात्र मानते हुए वह ऐसा आच-रण करता है जो उसे हमेशा उनकी प्रत्यक्ष सीमाबद्धता (apparent limitations) से भयभीत रखता है। गीता के संदेश का अभिप्राय, प्रत्यक्ष रूप से अर्जुन को प्रबो-धित करने के अलावा हमलोगों को वेद के सही अर्थ

के संबंध में सचेतन करना है। वेद का वास्तविक अर्थ यह है कि हम आत्मा के संबंध में ज्ञान प्राप्त करें और तदनुसार अपना जीवन संचालित करें।

हम लम्बी-चौड़ी बातें करते हैं, ऊँचे-ऊँचे सिद्धांत बघाड़ते हैं; लेकिन व्यावहारिक जीवन में इन सिद्धांतों को उतारने में बुरी तरह विफल हो जाते हैं। अतएव, हमें सावधान रहना होगा कि हमारी वाणी और कर्म में कोई असंगति न होने पावे। गीता इस बात की शिक्षा देती है कि इस संसार में कैसे रहा जाय। हमारा प्रत्येक कर्म इस रूप से प्रेरित होना चाहिए कि वह इस संसार में फँसाने के बदले हमें बन्धन से मुक्त कर दे। गीता के अनुसार कर्मयोग सफलता का रहस्य है। कर्मयोग इस बात की शिक्षा देता है कि हमें किस प्रकार कर्म करना चाहिए जो हमें उलझन में न डालकर बन्धन से मुक्त करे। प्राचीन समय में लोगों के मन में ऐसी भ्रान्त धारणा थी कि यदि वे अपने आप को कर्मों में संलग्न रखेंगे तो वे उलझ जायँगे और अपने आध्यात्मिक आदर्श को खो बैठेंगे। गीता ने इस भ्रान्त धारणा को समाप्त कर दिया है। अब हमारा कर्त्तव्य है कि हम गीता के संदेशों का अनुसरण करें। जब हम ऐसा करेंगे तो हमारा सम्पूर्ण जीवन ही परिवर्तित हो जायगा, हम एक विशिष्ट प्रकार से ही सोचने और आचरण करने लगेंगे।

स्वामी विवेकानन्द ने गीता के संदेशों पर अत्यधिक बल दिया है और जो सही परिप्रेक्ष्य (Perspective) में प्रस्तुत किया गया है। अतएव, प्राचीन संदेश ने स्वामी विवेकानन्द के व्याख्यानों के द्वारा नयी प्रेरक शक्ति प्राप्त कर ली है। उनके व्याख्यानों में हम गीता के मूलभूत सिद्धांतों की आश्चर्यजनक व्याख्या और हमारे दैनन्दिन जीवन में उसके प्रयोग करने के बुद्धि संपन्न उपायों का उल्लेख पाते हैं। जब तक हमारा ज्ञान और कर्म आधुनिक जीवन से संबद्ध नहीं है तब तक उसका कोई अर्थ नहीं है। अब हम अपने सम्पूर्ण जीवन, सम्पूर्ण कर्मों को परम उद्देश्य की प्राप्ति में कैसे लगावें, जिसके संबंध में गीता का उपदेश है और स्वामी विवेकानन्द के द्वारा जिसकी युक्ति संगत व्याख्या की गयी है? ये दोनों चीजें अलग नहीं हैं। लेकिन इसे एक साथ समझना होगा। विश्व भर की यात्रा करने और विभिन्न समाजों एवं उसके व्यवहारों से अवगत होने के पश्चात् स्वामी विवेकानन्द इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि पाश्चात्य देशों में प्रचण्ड कर्मशीलता उसके पतन का कारण बनेगी, क्योंकि लोग वहाँ इस बात का गम्भीरतापूर्वक चिन्तन नहीं कर पा रहे हैं कि इन क्रिया-कलापों के द्वारा वे किस उद्देश्य की प्राप्ति करने जा रहे हैं। किसी भी कर्म को करने के पहले उसके उद्देश्य का विचार अवश्य करना चाहिए। वह कौन-सा उद्देश्य है जिसकी प्राप्ति हम इस कर्म के माध्यम से करने जा रहे हैं? स्वामीजी हमें किसी कर्म को उद्देश्यविहीन और बेचैन होकर (restlessly) करने का उपदेश नहीं देते हैं। यद्यपि वे हमेशा प्रचण्ड कर्मशीलता (Intense activity) का उपदेश देते थे फिर भी इस संबंध में वे सचेत थे कि कोई भी कर्म लक्ष्य-विहीन न हो।

स्वामीजी ने इस बात की शिक्षा दी है कि हम इस आधुनिक युग में बिना समाज से सम्बन्ध विच्छेद किये कैसे एक योगी की तरह रह सकते हैं। तुम जहाँ कहीं भी हो, तुम योगी हो सकते हो। यह ध्यान में रखते हुए कि कोई तुमसे पृथक् नहीं है और तुम आन्तरिक रूप से अनासक्त एवं स्वार्थ-रहित होकर दूसरों के लिए कर्म कर रहे हो, तुम सभी कार्य योगी की तरह सम्पन्न कर सकते हो। अपने मन में इस तरह के ज्ञान को दृढ़तापूर्वक बैठाकर यदि तुम मानवता के कल्याण के लिए कर्म करते हो तो तुम योगी हो, संन्यासी हो। स्वार्थ से युक्त कर्म और स्वार्थ भावना का त्याग ही संन्यास कहलाता है। सिर्फ कर्म से दूर रहकर हम वास्तविक नैष्कर्म्य की स्थिति में नहीं पहुँच सकते हैं। निष्कर्मता का वास्तविक अर्थ कर्म-विहीनता की वह अवस्था है जिसमें हम महसूस करते हैं कि "हम अपने कर्म से प्रभावित और परिवर्तित नहीं हैं, बल्कि एक

दर्शक की भाँति अनासक्त हैं।" यह बहुत कठिन धारणा है, जिसको हमें धीरे-धीरे समझना होगा। लेकिन ऐसी समझ प्रत्येक कर्म को बिना किसी स्वार्थ भावना से करके ही पैदा कर सकते हैं। यह पहली सीढ़ी है जिस-पर हमें आगे बढ़ना है। हम बाह्य रूप से प्रचण्ड कर्म में संलग्न रह सकते हैं साथ ही आन्तरिक रूप से उससे सम्पूर्णतया अनासक्त रह सकते हैं। इसी बात की शिक्षा स्वामीजी आधुनिक विश्व को ऐसी भाषा में देना चाहते हैं जिसे हम समझ सकें। हमें स्वामीजी के प्रकाश में गीता का अध्ययन करना चाहिए। अपने गुरुदेव श्रीराम-कृष्ण की ओर संकेत करते हुए स्वामीजी ने कहा था कि श्रीरामकृष्ण के जीवन के आलोक में शास्त्रों के मर्म को समझना होगा। श्रीरामकृष्ण प्रायः गम्भीर समाधि में मग्न रहते थे, लेकिन जब कभी बाह्य जगत् का ज्ञान होता था तब वे स्वयं लोगों के कल्याण-कार्य में समान उत्साह से संलग्न हो जाते थे। उन्होंने अपने लाभ के लिए कुछ नहीं किया। उनमें स्वार्थ नाम की कोई चीज नहीं थी। उनका अहं सम्पूर्ण रूप से लुप्त हो गया था और उन्होंने जो कुछ भी किया और कहा सभी मानवता के कल्याण के लिए था। हम ऐसी आशा करें कि इन आदर्शों के प्रति हमारी श्रद्धा के द्वारा हमें गीता, श्रीरामकृष्ण और स्वामीजी के सन्देशों के संबंध में सही समझ (Understanding) पैदा होगी। उनके आशीर्वाद के द्वारा हम ऐसे ज्ञान से सम्पन्न हों जो मानवता के कल्याण में सहायक हों।

□

गीता में पाप-पुण्य प्रसंग

स्वामी वेदान्तानन्द
रामकृष्ण मिशन आश्रम,
पटना।

गीता में अनेक बार पाप और पुण्य इन दोनों शब्दों का प्रयोग देखा जाता है। किन्तु, इन दोनों शब्दों की कोई परिभाषा गीता में नहीं पायी जाती। इसलिए, हमलोग पहले अर्जुन द्वारा कथित पाप के सम्बन्ध में अर्जुन की धारणा एवं श्रीकृष्ण के उपदेशों में व्यक्त पाप के लक्षणों को समझने की चेष्टा करेंगे।

गीता के प्रथम अध्याय के ३७ में श्लोक में हमलोग देखते हैं कि अर्जुन पाप के भय से युद्ध से विरत होना चाहते हैं। वे कहते हैं, कौरव पक्ष के दुर्योधन आदि यद्यपि आततायी हैं, तथापि उनलोगों की हत्या करने से हमलोगों को पाप होगा। आततायी किसे कहते हैं?—जो घरों में आग लगाते हैं, विष खिलाकर मारने की चेष्टा करते हैं, अस्त्र-शस्त्र लेकर हत्या करने आते हैं, धन या विषय-सम्पत्ति या स्त्री का अपहरण कर लेते हैं, वे सब आततायी हैं। और प्राचीन काल में किसी भी आततायी को आते देखकर उसकी निर्विचार भाव से हत्या कर देने का विधान था। किन्तु, अर्जुन को इस प्रकार के विधान के औचित्य के सम्बन्ध में संदेह उत्पन्न हो गया है। अर्जुन और भी सोचते हैं—कौरवों के आततायी होने पर भी वे सब तो आत्मीय हैं। आत्मीयों का वध कर सुखपूर्वक जीवन-यापन कर नहीं पाऊँगा। अर्जुन के मन में, करणीय कर्म के सम्पादन के फलस्वरूप बाद में सुख से नहीं रह सकूँगा, यह चिन्ता उपस्थित हो गयी है।

द्वितीय अध्याय के ३८-३९वें श्लोक में अर्जुन युद्ध से विरत होने के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं—कौरव तो लोभी हैं, लोभ के वशीभूत होकर अपने आत्मीयजनों का विरोध करने से जो पाप होता है, इसे वे नहीं समझते हैं। किन्तु हमलोग तो समझते हैं कि आत्मीयजन का विनाश करना एवं उसके फलस्वरूप वंश का नाश करना गर्हित पाप कर्म है। तब कैसे हमलोग इस युद्ध से विरत नहीं होंगे?

१/४५वें श्लोक में अर्जुन का यह मनोभाव व्यक्त हुआ है। अर्जुन सोचते हैं, आत्मीयजनों की हत्या करना महापापजनक कार्य है। इसलिए, इस प्रकार के युद्ध का आयोजन करना तथा उसमें प्रवृत्त होना अत्यन्त अनुचित कार्य है।

यहाँ, उन दिनों पाप के सम्बन्ध में ज्ञानी व्यक्तिगण जैसी धारणा पालते थे उसका उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा। महाभारत के शान्तिपर्व में दस प्रकार के पापों का उल्लेख है। नर हत्या, चोरी एवं परायी स्त्री के साथ प्रसंग करना—ये तीन प्रकार के शरीरिक पाप कर्म हैं। असत् विषयों का विवेचन करना, कर्कश वाणी का प्रयोग करना, दुष्टतापूर्ण वाणी एवं झूठी बात बोलना—ये चार प्रकार के वाचिक पाप हैं। और तीन प्रकार के मानसिक पाप होते हैं—दूसरों के धन की प्राप्ति का चिन्तन, दूसरों के अनिष्ट का चिन्तन एवं "शुभ कर्मों का शुभ तथा बुरे कर्मों का बुरा फल होता है" इस नीति में अविश्वास करना।

मित्र-द्रोह से पाप होता है एवं सुख-भोग के लोभ से पाप की उत्पत्ति होती है—अर्जुन ने इस प्रकार का विचार व्यक्त किया है। तदुपरान्त श्रीकृष्ण के वचनों में कहे गये पाप के विषय में हमलोग विवेचन करेंगे।

२/३३वें श्लोक में हम देखते हैं कि अर्जुन जिस युद्ध को पापजनक मानते हैं, श्रीकृष्ण उसे धर्मसम्मत एवं उसे नहीं करने से पाप होगा, ऐसा कहते हैं। क्योंकि जो व्यक्ति जिस कार्य के योग्य है, उसे वह करना उचित है, भय के वशीभूत होकर क्षत्रिय के लिए युद्ध त्याग करना एवं भिक्षावृत्ति का अवलम्बन करना युक्ति संगत नहीं है।

२/३८वें श्लोक में जिस प्रकार के मनोभाव को ग्रहणकर युद्ध करने से पाप स्पर्श नहीं करेगा यह कहा गया है। मनुष्य सुख की आशा से कार्य करता है, दुःख के भय से करणीय कर्म से विरत होता है। अर्जुन को भय है कि आत्मीयजनों का वध कर युद्ध में विजय प्राप्त करने से भी सुखी नहीं हो पाऊँगा। स्मरण होता रहेगा कि भोग की वस्तुएँ उनके रक्त से सनी हैं। इसीसे भगवान् ने कहा—सुख की आशा एवं दुःख के भय का त्याग कर तथा विजय और पराजय की भावना को छोड़कर जो कर्तव्य-कर्म उपस्थित हुआ है उसे यथाशक्ति सुन्दर ढंग से करते जाओ।

शास्त्र में गृहस्थ के लिए प्रतिदिन पाँच प्रकार के यज्ञ करने का विधान है। उसे प्रत्येक दिन उपासना, शास्त्रों का पाठ, पितृ पुरुषों का श्रद्धापूर्वक स्मरण, पशु-पक्षी आदि प्राणियों को अन्न दान एवं अतिथि-सेवा करनी होगी। ३/९३ वें श्लोक में श्रीकृष्ण कहते हैं—जो व्यक्ति मानवेतर प्राणी और अतिथि को अन्न-दान तथा भोजन देने के बाद बचे हुए अन्न का भोजन करता है वह, घर गृहस्थी के लिए आवश्यक कार्य करने के समय अनिच्छा से क्षुद्र जीवों की हत्या हो जाने के फलस्वरूप जीव-हिंसा से जो किल्विष (पाप) होता है, उस पाप से मुक्त हो जाता है। किन्तु जो लोग केवल अपने आहार के लिए रसोई पकाते हैं। वे सब व्यक्ति दुराचारी हैं और केवल पाप-भोग करते हैं। इस श्लोक में पापकर्म करनेवाले के अर्थ में पाप शब्द व्यवहृत हुआ है। अघ शब्द का अर्थ पाप होता है।

३/६६वें श्लोक में अर्जुन प्रश्न करते हैं कि इच्छा नहीं रहने पर भी विचारवान मनुष्य भी पाप कर्म में क्यों प्रवृत्त होता है? कौन मानो उसे बलपूर्वक पाप कर्म करने को बाध्य करता है? इस प्रश्न के उत्तर में श्रीभगवान् ने कहा—रजोगुण से उत्पन्न, मनुष्य में अन्तर्निहित काम और क्रोध, इन दोनों प्रवृत्तियों के वशीभूत होकर मनुष्य पापपूर्ण आचरण करता है।

३/३१वें श्लोक में काम शब्द का सभी प्रकारों की भोगवासना के व्यापक अर्थ में प्रयोग किया गया है। और, वासना की पूर्ति में वाधा के उपस्थित होने पर क्रोध की उत्पत्ति होती है इसलिए जो काम है वही क्रोध भी है—ऐसा कहा गया है।

३/४१वें श्लोक में श्रीभगवान् काम की उत्पत्ति होने के पूर्व ही इन्द्रियों को संयत कर पापरूपी इस काम का विनाश करने को कहते हैं।

कर्म से पुण्य अथवा पाप की उत्पत्ति होती है, जिसमें 'मैं कर्त्ता हूँ' इस प्रकार का अभिमान है वह कर्म फल का अवश्य भोग करेगा, और चित्त शुद्धि जवतक न हो तवतक कोई कर्म-त्याग का अधिकारी नहीं होता, अतः उपाय क्या है इन सभी शंकाओं का समाधान श्रीभगवान् ५/१०वें श्लोक में करते हैं। वे कहते हैं, जो सदाचार सम्पन्न व्यक्ति कर्मों की आसक्ति का त्याग-कर, कर्म के सुफल का मैं भोग करूँगा, इस प्रकार की वासना को मन में उत्पन्न नहीं होने देकर, सारे कर्मों एवं उनके फल को परमेश्वर को समर्पित कर सकता है, वह संसार-वन्धन के कारण किसी प्रकार के कर्म के फल में लिप्त नहीं होता। इस श्लोक में 'पाप में लिप्त नहीं होता' कहने से यह समझना होगा कि पाप-पुण्यरूपी किसी प्रकार के कर्म के फल का भोग उसे नहीं करना पड़ता है।

५/१५वें श्लोक में कहा गया है कि परमेश्वर विश्व-ब्रह्माण्ड में व्याप्त होकर विराजित हैं। वे व्यक्ति के शुभ अथवा अशुभ कर्म का फल ग्रहण नहीं करते। अज्ञान के वशीभूत होकर मनुष्य इसे समझ नहीं पाता, किन्तु संसार में नाम-रूप से युक्त जितनी वस्तुएँ हैं उन सवको सत्य एवं एक से दूसरे को भिन्न देखता है। उसे हर क्षण लगता है कि 'मैं कार्य करता हूँ, दूसरे के द्वारा कार्य कराता हूँ, कर्म फल का मैं भोग करता हूँ'—यही अज्ञान है।

६/९वें श्लोक में समदर्शन की प्रशंसा की गयी है। संसार में मनुष्य-मनुष्य के वीच आचार-व्यवहार में विचित्रता देखी जाती है। कोई सदाचार सम्पन्न है तो कोई निषिद्ध कर्म में लिप्त। इन सारे वाह्य आचरणों की उपेक्षा कर सभी मनुष्यों को जो समानभाव से देख सकते हैं वे उत्तम योगी हैं। इस श्लोक के 'पापेषु' शब्द का अर्थ है 'निषिद्ध कर्मों के आचरण में रत मनुष्य'।

७/३८वें श्लोक में भगवत् भजन के योग्य अधिकारी व्यक्ति का निरूपण हुआ है। इसमें कहा गया है कि सत्कर्मों के अनुष्ठान के फलस्वरूप जिनके अन्तःकरण से निषिद्ध कर्म की स्वाभाविक प्रवृत्ति नष्ट हो गयी है, वे सव सुख के प्रति आकृष्ट अथवा दुःखजनक कुछ घटनाओं के घटने से अभिभूत नहीं होकर निष्ठापूर्वक भजन में अपना मनोनिवेश करने में समर्थ होते हैं।

९/३२वें श्लोक में 'पापयोनयः' इस समासवद्ध पद का पाप शब्द 'निकृष्ट' अर्थ में व्यवहृत हुआ है। इस श्लोक में भगवान् ने कहा—अत्यन्त हीन वंश में जन्म ग्रहण करने पर भी कोई व्यक्ति यदि सर्वतोभावेन ईश्वर की शरण-ग्रहण कर सके तव वह उनकी कृपा से संसार-वन्धन से मुक्त हो जाता है।

तदुपरान्त हमलोग गीता के १८/६६वें श्लोक में पाप शब्द का उल्लेख देखते हैं। अर्जुन ने कहा है—हाय, हाय! राज्य एवं सुख के लोभ से हमलोगों ने कैसे भयंकर महापापजनक उद्योग किये हैं। (१/४५ विवेचनीय) १८/६६वें श्लोक में श्रीभगवान् ने उसी आक्षेप का उत्तर देकर अपना वक्तव्य समाप्त किया। कहा—'अर्जुन, तुमने अनेक शास्त्रों की वातें सुनी हैं। उन सवको भूलकर तुम 'मर सकता हूँ' तथा 'मार सकता हूँ' इस प्रकार के कर्त्तव्य के अभिमान का त्याग कर, मेरी शरण ग्रहण करो। ऐसा करने पर मैं पाप या पुण्यजनक कर्म के फलभोग से तुम्हारी रक्षा करूँगा।'

स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण

—स्वामी मन्मथ नाथ गांगुली
अनुवादक—श्री विवेकानन्द यादव
पटना।

मेरा प्रथम दर्शन

भगिनी निवेदिता

वह १८९७ ईस्वी थी, जब मैंने सुना कि स्वामीजी (स्वामी विवेकानन्द) कलकत्ता पहुँचे हैं। मैं उनसे मिलने बागबाजार गया, जहाँ वे श्री बलराम बसु के घर पर ठहरे हुए थे। दूसरी मंजिल पर, सड़क की ओर दरवाजे वाला एक हॉल था, जिसमें बैठे कुछ लोग पूज्य स्वामीजी के दर्शन के लिए प्रतीक्षा कर रहे थे। वे बगल वाले कमरे में विराजमान थे। फर्श पर दरी बिछी हुई थी। मैं एक कोने में जाकर बैठ गया। कुछ ही क्षणों के बाद वहाँ हॉल के एक भीतरी दरवाजे से मिस नोबुल (भगिनी निवेदिता) उपस्थित हुईं। वह पीले केसरिया रंग का एक लम्बा ढीला-ढाला चोगा पहने हुई थीं जो प्रायः उनके घुटने तक झूल रहा था। उनके गले में मणिमाला की तरह पवित्र रुद्राक्ष की माला थी। वह नंगे पैर जब कमरे में उपस्थित हुईं, तो साक्षात् देवी जैसी प्रतीत हुईं।

वह धीमे कदमों से सीधे बगल वाले कमरे में गयीं, जिसमें स्वामीजी ठहरे हुए थे। वह दरवाजे के पास ही नतजानु बैठ गयीं और उनके दोनों हाथ जुड़ गये—भगवत् स्वरूप स्वामीजी को प्रणाम निवेदित करने के लिए। फिर नतमस्तक होकर प्रणाम निवेदित किया और वहीं घुटनों के बल बैठ गयीं—शान्त बनी, दोनों हथेलियाँ जुड़ी हुईं, जैसा हम प्रार्थना करते समय करते हैं। किन्तु वह उस कमरे के भीतर नहीं गयीं जिसमें स्वामीजी चारपाई पर बैठे हुए थे। स्वामीजी ने कुछ देर तक उनसे वार्तालाप किया और उन्होंने भी श्रद्धापूर्वक मृदुल स्वर में उत्तर दिया, मानो जैसे वह किसी गिरजाघर में हों। उसके बाद स्वामीजी को पुनः प्रणाम करके उसी तरह धीमे कदमों से लौट गयीं, जैसे वह आयी थीं।

मैंने भगिनी निवेदिता के बारे में बहुत कुछ सुना था, लेकिन यह प्रथम अवसर था। जब मुझे उनके साक्षात् दर्शन हुए। उनके मुखमंडल पर निर्मलता और परिपूर्णता थी जैसा कि हम 'मैडोना' के मुखमंडल पर पाते हैं। उनकी मुखाकृति हृदय को व्याप्त करनेवाली भीतरी पवित्रता को प्रकट कर रही थी जैसा हम ईश्वर का अपरोक्ष साक्षात्कार करने वाले व्यक्ति के चेहरे पर पाते हैं, जिनके भीतर की दिव्यता अर्द्धनिमीलित नेत्रों से संसार की मंगल-कामना करने के लिए निस्सृत होती रहती है।

बाद में मुझे भगिनी निवेदिता के कुछ भाषण सुनने के अवसर भी मिले। वह एक महान् वक्ता थीं और इतना तेज बोलती थीं कि चार-पाँच स्टेनोग्राफर मिलकर भी शॉर्ट-हैण्ड-टाइप में उनके भाषण को नहीं लिख पाते थे। जिन विषयों पर वह बोलती थीं वे सदैव अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण तथा दार्शनिक होते थे। वह गंभीर, सूक्ष्म आध्यात्मिक सत्यों के विभिन्न पहलुओं की व्याख्या ऐसी सरलता से करती थीं जैसा कि केवल उन सदस्यों की प्रत्यक्ष अनुभूति से ही संभव है। उनमें आधुनिक पाश्चात्य विचारधाराओं के प्रकाश में विशाल एवं रहस्यपूर्ण औपनिषदिक दर्शनों को समझने की अद्भुत

क्षमता थी। उनके शब्द-भाण्डार विशाल थे, और भाषा पर अधिकार भी खूब था। उनकी महान् विद्वत्ता प्राच्य एवं पाश्चात्य दर्शनों में उनकी शैक्षणिक सूझ-बूझ को प्रदर्शित करती थी।

उनके भाषण को सुनकर श्रोतागण मंत्रमुग्ध हो जाते थे। उनकी वाणी उपस्थित श्रोतावृन्द की आत्माओं को उच्च से उच्चतर राज्य में बहा ले जाती, जहाँ वह दिव्यवाणी उनके लिए रहस्य के प्रत्येक दरवाजे को खोल देती। वह स्वयं मानो पवित्र स्वर्गीय वेदी की अग्नि-ज्वाला-सी प्रतीत होती थीं। परन्तु, उस स्मरणीय दिन, मैंने उन्हें मात्र एक कृपा प्राप्त भक्त के रूप में देखा जिस पर प्रभु ने स्वयं कृपा की थी।

श्री विजयकृष्ण गोस्वामी :

कुछ ही क्षणों बाद, मिट्टी के बने मृदंग तथा करताल लिए हुए अपने अनुयायियों के साथ श्री विजयकृष्ण गोस्वामी उपस्थित हुए। वहाँ पहले से ही उपस्थित लोगों से थोड़ा हटकर उनके दल के लोग बैठ गये। जैसे ही स्वामीजी ने श्री विजयकृष्ण को देखा वैसे ही वे अपना कमरा छोड़कर वहाँ आये और हॉल के मध्य खड़े हो गये। स्वामीजी को देखकर गोस्वामीजी तथा उनके दल के लोग सम्मान में उठ खड़े हुए। तब श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी स्वामीजी की पदधूलि की कोशिश में एक या दो पग बढ़े। किन्तु स्वामीजी इसके लिए अत्यधिक सावधान थे और वे स्वयं श्री गोस्वामीजी की चरण-धूलि लेने के लिए झुक गये। एक ही साथ दोनों ने एक-दूसरे द्वारा चरण-स्पर्श किये जाने से बचने की कोशिश की और साथ ही इस प्रकार की श्रद्धा प्रदान करने में एक-दूसरे को परास्त करने की चेष्टा की। अन्ततः स्वामीजी ने श्री गोस्वामी जी के हाथ पकड़ लिये और हॉल के मध्य में फर्स पर अपनी बगल में उन्हें बिठा लिया।

उस समय गोस्वामीजी में बहुत ही आध्यात्मिक भावप्रवणता थी और वे ऐसे आदमी की तरह प्रतीत हो रहे थे जो मानो ईश्वर के प्रेम में मतवाला हो गया हो। कुछ मिनट बाद, जब वे थोड़ा सामान्य हुए तब स्वामीजी ने उनसे ठाकुर (श्रीरामकृष्णदेव) के संबंध में कुछ कहने के लिए प्रार्थना की। इस पर श्री विजय-कृष्ण गोस्वामीजी पुनः भाव विह्वल हो गये एवं अत्य-धिक प्रयत्न के बाद केवल निम्न शब्दों की कई बार आवृत्ति कर सके; "श्रीठाकुर ने दयापूर्वक मुझपर बड़ी कृपा की।" किन्तु अत्यधिक भक्ति के उच्छ्वास से विह्वल होने के कारण वे और अधिक नहीं बोल सके। हमलोग उनके आरक्त मुखमंडल पर 'कृपा और दैवी आनंद" की झलक स्पष्ट देख रहे थे। वे शान्त और निस्चेष्ट बैठे रहे। उनकी आँखों से कुछ काल तक अविरल अश्रुधारा बहती रही जिससे उनके दोनों कपोल भींग गये। इस पर उनके साथ आये लोग उठ खड़े हुए और उनको तथा स्वामीजी को घेरकर हरि संकीर्त्तन करने लगे। कुछ देर बाद गोस्वामीजी उठने में समर्थ हुए किन्तु तब भी वे अर्द्धजागृत-चेतनावस्था में चौंधियाये हुए से लगते थे। उनके अनुयायी उनको अपने बीच में लेकर धीरे-धीरे हॉल से बाहर चले गये।

स्वामीजी को मेरा प्रणाम अर्पण :

और उस अवसर पर मैंने स्वामीजी को कुछ दूर से ही प्रणाम अर्पित किया। उस समय उनसे मेरा परिचय करानेवाला कोई नहीं था, किन्तु उनको आमने-सामने देखकर मैंने अत्यंत आनन्द का अनुभव किया। मैंने सोचा कि यह मेरा परम सौभाग्य है कि मैंने विश्व वरेण्य पूज्य स्वामीजी को देखा जो अमेरिका में अपनी महान् विद्वत्ता तथा अद्भुत् वक्तृताशक्ति के लिए सम्मानित किये गये थे। मैं इलाहाबाद में सरकारी नौकरी में पदस्थ एक मामूली-सा क्लर्क था, परन्तु स्वामीजी के स्वदेश आगमन की बात जानकर, मैंने अपने कार्यालय से छुट्टी ले ली और उनके दर्शन के लिए चल पड़ा। इस प्रकार मैं कलकत्ता आया था जहाँ मेरे बड़े भाई साहब रहते थे तथा वकालत करते थे। वर्ष में दो या तीन बार मैं कलकत्ता आया करता था और अपने आध्यात्मिक कल्याण के लिए कभी भी

मठ के संन्यासियों—श्रीरामकृष्ण के लीलापार्षदों से निकटतर संबंध बनाने के अवसर को हाथ से जाने न देता था।

कुछेक अवसरों पर मैंने श्री माँ सारदा को भी देखा था। किन्तु, कभी भी उनसे दीक्षा के लिए आग्रह नहीं किया। श्री नरेन्द्रनाथ बसु नाम का एक मेरा ब्रह्म-समाजी मित्र श्री माँ के पवित्र चरण-कमलों के प्रथम दर्शन से ही दैवी आनन्द में मदमस्त हो गया था। श्री माँ की कृपा से उसने जल्द ही अपनी पत्नी के साथ उनसे (श्री माँ से) दीक्षा ग्रहण की। यह वही मित्र था जिसने श्री बलरामबसु के घर में स्वामीजी के होने की खबर मुझे दी थी। इसी मित्र की कृपा से मुझे अपने जीवन में प्रथम बार स्वामीजी के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

मैं एक ऐसे युग में पैदा हुआ था जो वर्त्तमान पीढ़ी के लिए दुर्बोध-सा है। क्योंकि यह पीढ़ी उस काल की गहराई से जमे विचारों से, जो कि अब निरर्थक प्रतीत होते हैं, काफी दूर हट चुकी है। उस समय मैं ब्राह्मण-जातीय संस्कार से प्रभावित था जो कायस्थ-कुल में उत्पन्न संन्यासी का भी चरण-स्पर्श करने से रोकता था। आज भी मैं इस बात को स्वीकार करने में लज्जा महसूस नहीं करता कि उस दिन मेरे लिए स्वामीजी भी इस परंपरागत-रीति के अपवाद नहीं थे। किन्तु; स्वामीजी ने करुणायुक्त स्वर में मुझसे कुछ शब्द कहे और कुछ ही क्षणों में मेरे भीतर का अवरोध स्वरूप ब्राह्मण-जातीय संस्कार मुझे लुप्त होता हुआ-सा प्रतीत हुआ।

द्वितीय अभ्यागमन :

वे युगल नेत्र

दिसम्बर मास के अंतिम सप्ताह की एक सुबह मैं बेलुड़ गया। मैंने स्वामीजी को रसोईघर के सामनेवाले खुले आंगन के समीप पाया। उनके सिर पर गेरुए रंग की ऊनी टोपी थी। उनके शरीर पर एक लंबा ऊनी गाउन था जिसकी श्वेत पृष्ठभूमि पर कृष्ण-वर्ण की बड़ी-बड़ी धारियाँ थीं। उनके शरीर का वर्ण गोरा था, किन्तु एक अद्भुत् चमक एवं कोमलता के कारण उनकी त्वचा और भी अधिक गोरी प्रतीत होती थी। उनके व्यक्तित्व का सबसे आकर्षक अंश उनकी आँखें थीं। उनके विशाल भावपूर्ण नेत्र थे। मैंने जीवन में कभी भी ऐसे युगल-नेत्र नहीं देखें।

इस बार मैं उनके निकट गया और नतमस्तक होकर अंगुलियों के छोर से उनके पवित्र चरण का स्पर्श किया। नजदीक ही एक छोटा-सा टेन्ट था जिसमें चाय का एक टेबुल तथा बैठने के लिए कुछ स्टूल रखे थे। उन्होंने एक ब्रह्मचारी को मेरे लिए एक कप चाय लाने को कहा। टेबुल पर चाय एवं 'प्रसाद' परोसा गया। उसके बाद स्वामीजी वार्त्तालाप के 'मूड' में आ गये। उन्होंने मुझसे पूछा कि मैं कहाँ रहता हूँ और क्या करता हूँ? मैंने उचित ढंग से उत्तर दिया।

ब्रह्मवादिन् क्लब :

उस समय यू० पी० (उत्तर प्रदेश) में लोगों को श्रीरामकृष्णदेव के बारे में नहीं के बराबर जानकारी थी। कुछ मित्रों के साथ हमने एक कमरा किराये पर लिया जहाँ हम श्रीरामकृष्णदेव तथा श्री श्रीमाँ के फोटो की पूजा करते थे। इलाहाबाद में हम ही कुछ लोग थे, जो श्रीरामकृष्णदेव को अवतार मानते थे। पूजा, जप और ध्यान हमारे क्लब का विशिष्ट लक्ष्य था। धार्मिक पुस्तकों का हमारे पास एक छोटा-सा संग्रह था; हम नित्य 'कथामृत' तथा उपनिषद् से पाठ किया करते थे। बीच-बीच में धार्मिक प्रवचन होते रहते थे, जिसमें समाज के कुछ गण्यमान्य व्यक्ति भी भाग लेते थे। परन्तु उनमें से सभी रामकृष्णदेव को ईश्वरावतार के रूप में पूजा किये जाने के औचित्य पर सहमत नहीं थे। श्री शरत्चन्द्र मित्र हमारे क्लब के नेता थे और श्री हरेन्द्रनाथ दत्त प्रधान सहारा। बाद में चलकर हरेन्द्र नाथ ने स्वामीजी से दीक्षा प्राप्त की तथा अपने पवित्र साधु जीवन के लिए इलाहाबाद में

अत्यंत प्रसिद्ध हुए। रामकृष्ण मिशन से ब्रह्मवादिन् पत्रिका निकलती थी। इस नाम के प्रति हम विशेष आकर्षित हुए, इसलिए हमारे क्लब का नाम पड़ा 'ब्रह्मवादिन्'।

विज्ञान महाराज (स्वामी विज्ञानानन्दजी महाराज) कभी-कभी इलाहाबाद आया करते थे और प्रायः डॉ० मेजर वामन दास वसु के यहाँ ठहरा करते थे। डॉक्टर साहब के अनुज श्रीश बाबू विज्ञान महाराज के अन्तरंग मित्र थे। दोनों भाई उनके स्कूल के साथी थे। श्री श्री राखाल महाराज ने विज्ञान महाराज को हम इलाहाबादी युवा-नटखट लड़कों से मिलने तथा हमारी गतिविधियों के संबंध में उन्हें खबर करने के लिए कहा था। यह कहने की जरूरत नहीं कि स्वामी विवेकानन्द के गुरुभाइयों से, जो कि उस समय बेलुड़ मठ में रहते थे, हमलोगों का परिचय पहले से ही हो चुका था। हम यह कभी भी नहीं जान सके कि विज्ञान महाराज की हमलोगों के प्रति कैसी धारणा बनी। किन्तु, हमारे क्लब के सदस्यगण—युवकों का एक ऐसा दल था जो सभी जरूरतमंद, अनाथ, असहाय रोगियों की सेवा के लिए सदैव तत्पर रहता था और कभी-कभी तो हमें कुछ अभागे, असहाय व्यक्तियों की अन्तिम-क्रिया तक करनी पड़ती थी। यह संभव है कि स्वामीजी को भी इस संबंध में हमारी खबर हो। किन्तु, यह निश्चित-रूप से कहना असंभव है कि वे हमें जानते थे या नहीं?

तथापि उन्होंने कुछ क्षण तक मुझसे बातचीत की—मेरे बारे में तथा हमारे कार्यों के बारे में पूछा। फिर, वे कहीं अन्यत्र चले गये और मैं भी अपने परिचित संन्यासियों से मिलने चला गया। इस तरह दस बजे तक का समय कटा।

स्वामीजी अमेरिका तथा पेरिस में :

मठ के प्राङ्गण की ओर वाले बरामदे पर एक कुर्सी पर स्वामीजी बैठे थे और एक बेंच पर राखाल महाराज, महापुरुष महाराज तथा शरत महाराज थे तथा उनलोगों से थोड़ा हटकर एक अन्य बेंच पर मैं अकेला बैठा था। स्वामीजी बात करने के मूड में थे तथा अमेरिका प्रवास के दौरान हुए अनेक अनुभव सुना रहे थे। वार्त्तालाप के क्रम में उन्होंने कहा—"शिकागो में यह सिद्ध हो गया कि हिन्दू-धर्म दुनिया का सबसे महान् धर्म है। इस पर पादरी लोग बौखला गये। वे फ्रांस में एक दूसरा विश्वधर्म-सम्मेलन करवाना चाहते थे। उन्होंने इसे पेरिस में बुलवाने का निश्चय किया था और योजना बनायी थी कि इसमें वक्ताओं को फ्रेंच भाषा में बोलना अनिवार्य होगा। मैं उस समय फ्रेंच नहीं जानता था। उनलोगों ने फ्रेंच भाषा से मेरी अनभिज्ञता को जान लिया और सोचा इस प्रकार मैं सम्मेलन में भाग लेने से वंचित रह जाऊँगा। किन्तु, मैं फ्रांस चला गया और लगभग ६ महीने में फ्रेंच सीख ली तथा उस भाषा में थोड़ा-बहुत भाषण भी देने लगा। इस प्रकार मिशनरियों तथा पादरियों का उत्साह ठण्ढा पड़ गया और बाद में उन्होंने दूसरा विश्वधर्म-सम्मेलन बुलाने के विचार का परित्याग कर दिया।"

स्वामीजी ने कहा, "अमेरिका में, मेरे कमरे के बाहर एक निजी-पत्र-पेटी (Private letter box) थी। मैं इसमें ताला लगा दिया करता था। कभी-कभी दिन में मैं स्वयं इसे खोलता था। सभी ढंग के व्यक्तियों द्वारा लिखे गये मेरे नाम अनेक पत्र होते थे। उनमें से कई अज्ञात व्यक्तियों द्वारा प्रेषित धमकी भरे पत्र होते थे। वे मुझे हिन्दू-धर्म का प्रचार नहीं करने के लिए कहते थे। परन्तु कभी-कभी मुझे प्रशंसा और प्रोत्साहन से भरे पत्र भी मिलते थे जिनमें से अधिकांश महिलाओं द्वारा लिखे होते। उनमें से कुछेक में शादी का प्रस्ताव भी रहता था। कभी कुछ ऐसे अवसर भी आये जब कुछ प्रभावशाली महिलाओं ने मुझसे किसी धनी महिला से शादी कर अमेरिका में बस जाने का विचार भी व्यक्त किया। मुझे इन्हें समझाना पड़ता था कि भारतीय संन्यासी शादी नहीं करते। परन्तु, उन्हें यह समझाना बहुत कठिन था, क्योंकि कुछ पादरी उनके

देश में शादी भी करते थे. इसलिए वे पूछतीं कि मैं भी वैसा क्यों नहीं कर सकता ?"

बातचीत के क्रम में उन्होंने एक अद्भुत घटना बतलायी जो मुझे अत्यंत आश्चर्यजनक लगी तथा स्वामीजी ने भी इस घटना की व्याख्या करने की कोशिश नहीं की। उन्होंने कहा, "उस समय मैं प्राय: एक शहर से दूसरे शहर की यात्रा करता रहता था और एक दिन में अनेक सभाओं को संबोधित किया करता था। एक दिन मैं सोच रहा था कि मैं उन सभी विषयों पर बोल चुका हूँ, जिसे मैं जानता था। अगले दिन मुझे एक सभा में व्याख्यान देना था और मैं चिंतित था कि इस बार मुझे पहले दिये गये भाषणों की पुनरावृत्ति करनी पड़ेगी जो मैं नहीं चाहता था। रात अधिक ढल चुकी थी। एक आराम कुर्सी पर बैठा मैं विश्राम कर रहा था और मन-ही-मन अपनी इस विषम परिस्थिति के लिए 'ठाकुर' को कोस रहा था। अचानक मैंने उन्हें बोलते हुए सुना। उस समय मैंने अपनी आँखें बंद कर रखी थीं इसलिए, उन्हें देख नहीं सका। मैंने सिर्फ उनकी वाणी सुनी। वे कुछ देर तक विस्तारपूर्वक बोलते रहे और कहा, "ये बातें—ये बातें बोलो और तनिक भी चिंता मत करो।" मैं अत्यंत ही आश्चर्यित था। किन्तु, मैं अपने अगले व्याख्यान के लिए बोलने का विषय जानकर बहुत ही हर्षित हुआ। परन्तु आगे उससे भी अधिक आश्चर्य की बात थी। अगले दिन सुबह में मेरे कमरे की बगल में रहनेवाले एक भद्र व्यक्ति ने मुझसे पूछा, "विगत रात आपसे कौन बात कर रहा था ? मैं कुछ भी नहीं समझ सका, क्योंकि वह भाषा मेरे लिए अपरिचित थी।" जो भाषा मैंने सुनी थी, वह बंगला थी। मुझे इस बात का बड़ा ही आश्चर्य हुआ कि यह व्यक्ति भी कैसे उन बातों को सुन सका।"

स्वामीजी बोलते गये—"अमेरिका में मुझे एकबार अपने गुरुदेव पर भाषण देने को कहा गया। मैंने उन-लोगों से कहा कि श्रीरामकृष्णदेव तांबे का एक सिक्का भी नहीं छू सकते थे, सोना और चाँदी की बात तो दूर रही। यह केवल आलंकारिक रूप से ही सत्य नहीं है, बल्कि अक्षरश:। अगर अनजान में भी वे धातु के सिक्के को छू देते तो उनकी ऊँगलियाँ टेढ़ी हो जातीं और हाथ स्वत: मुड़ जाते। धातु स्पर्श से उन्हें वास्तविक शारीरिक पीड़ा होती और यह इतनी तीव्र होती कि वे सोये में भी चिल्ला उठते थे। एक रात मेरे गुरुदेव सोये हुए थे, तब मैंने एक चाँदी का सिक्का लेकर उन्हें छुला दिया। इसका तत्क्षण प्रभाव पड़ा। श्रीरामकृष्ण जग गये। यह स्पष्ट था कि उन्हें बहुत पीड़ा हुई थी और मैं अपनी इस बालकोचित क्रिया के लिए लज्जित था।"

श्रीरामकृष्ण की जीवनी :—

तब राखाल महाराज ने स्वामीजी को श्री ठाकुर की जीवनी लिखने के लिए अनुरोध किया। इस पर स्वामीजी उछल पड़े, मानो खूब जोर का झटका लगा हो और उन्होंने तुरत कहा, "मैं इसे नहीं कर सकता। ऐसा कठिन कार्य मेरे लिए नहीं है। अकुशल कलाकार के हाथ से शिवजी की मूर्त्ति बंदर-सी हो जाती है।" इस पर राखाल महाराज ने कहा, "अगर आप ऐसा कहते हैं, तब यह कार्य वैसे ही पड़ा रह जायगा।" किन्तु स्वामीजी ने कहा, "अगर ठाकुर की इच्छा हुई तो भविष्य में कोई इस कार्य को पूरा करेगा।" (क्रमश:)

ध्यान और उसके प्रकार

स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम
वाराणसी ।

[१]

जिस प्रकार आजकल टेलिविजन तथा कम्प्यूटर भारत के नवीनतम आकर्षण हैं, उसी प्रकार 'योग' तथा 'ध्यान' विदेशों में, विशेषकर अमेरिका में, अत्यधिक प्रचलित हो रहे हैं। प्रत्येक काल या दशक में कोई-न-कोई नयी अभिरुचि जनमानस को आकर्षित करती है। ध्यान और योग की ओर झुकाव इसी का एक रूप है। ये मानो 'सभ्य', 'शिष्ट' समाज की आधुनिकतम फैशन हैं।

भारत की पुरातन आध्यात्मिक परंपरा से प्रेरित हो, अथवा आधुनिक प्रभाव एवं ध्यान की ओर जन-साधारण के झुकाव के कारण हो, अथवा ब्लड-प्रेशर और हृदय-रोग से छुटकारा पाने के लिए हो, दैनन्दिन जीवन की छिछली अर्थहीन रुटीन चक्र से ऊबकर जीवन में गहराई और अर्थ खोजने की कामना से ही हो, कई लोग ध्यान के बारे में जानना तथा किसी-न-किसी रूप में उसे अपने जीवन का अंग बनाना चाहते हैं।

ऐसे भी कुछ साधक हैं जो दृढ़ निष्ठा एवं पूर्ण-मनोयोग द्वारा ध्याननिष्ठ जीवन व्यतीत करना चाहते हैं। ध्यान आध्यात्मिक जीवन का तो सार सर्वस्व ही है, तथा एक साधक अपने समग्र जीवन एवं दैनंदिन क्रिया-कलाप को इस तरह सुनियोजित करता है कि वह उसके ध्यान को प्रोत्साहित करे, उसमें बाधक न बने। प्रस्तुत लेख उपर्युक्त सभी प्रकार के लोगों के लिए है: उनके लिए भी जो ध्यान का अभ्यास आंशिक रूप से केवल शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य के लिए करना चाहते हैं, तथा उनके लिए भी, जो उसे अपने जीवन में सबसे अधिक महत्व का स्थान प्रदान करना चाहते हैं।

ध्यान की विभिन्न परिभाषाएँ।

विभिन्न आचार्यों ने ध्यान की विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं। जैनाचार्य उमास्वाति के अनुसार किसी एक स्थान पर चिन्तन का निरोध करना ध्यान है: "**एकाग्र-चिन्ता-निरोधः ध्यानम्**"। एक अन्य परिभाषा के अनुसार मन की स्थिर अवस्था ध्यान तथा चल अवस्था चित्त कहलाती है। कुछ आचार्यों ने ध्यान को बहुत व्यापक अर्थ प्रदान किया है। यथा—

अभावो वा निरोधःस्यात् स च चिन्तान्तराव्ययः।
एक चिन्तात्मको यद्वा स्वसंविचिन्तयोज्झिता॥

अर्थात् चित्तवृत्तियों का निरोध अथवा अभाव, अथवा एक चिन्ता मात्र, अथवा चिन्तारहित स्वयं साक्षी भाव, ये सारे ध्यान कहे जा सकते हैं। कुछ मनीषियों ने साक्षी भाव या awareness को अधिक महत्व देकर मन के विभिन्न विचारों, वृत्तियों एवं भावों के निष्पक्ष साक्षी होने को ध्यान कहा है। इसे ही बौद्ध शास्त्रों में विपश्यना तथा जैन-आचार्यों के द्वारा पश्यना कहा गया है।

कुछ लोग तो इससे भी आगे बढ़ गये हैं। उनका कथन है कि जबतक किसी भी कार्य को करने की किंचित मात्र भी इच्छा विद्यमान है— भले ही वह चित्त वृत्ति निरोध ही क्यों न हो—तथा तत्प्रेरित प्रयत्न हो, तबतक मन का पूर्ण विलय सम्भव नहीं है। अतः चित्त-

निरोध का प्रयत्न किये बिना राग-द्वेष, संकल्प-विकल्प से रहित एक क्षण का अनुभव करने का प्रयत्न करना चाहिए। यही ध्यान है। ज्ञान योग (वेदान्त) की साधना में ध्यान के स्थान पर निदिध्यासन शब्द का प्रयोग हुआ है तथा जो उपनिषदोक्त तीन साधनों श्रवन, मनन, निदिध्यासन का तृतीय तथा अन्तिम साधन है। गुरु के श्रीमुख से महावाक्य का बारम्बार श्रवण करने के बाद, उसके अर्थ का शास्त्र संगत रूप में मनन करना तथा मनन के बाद प्राप्त निर्णय अथवा अर्थ में मन को एकाग्र करना निदिध्यासन कहलाता है।

विजातीय—देहादिप्रत्ययरहिताद्वितीय वस्तु---
सजातीय-प्रत्ययप्रवाही निदिध्यासनम् ॥

वस्तुतः ध्यान की उपर्युक्त विभिन्न परिभाषाएँ एक-दूसरे की परिपूरक एवं परस्पर सम्बन्धित हैं। अनेकाग्र-चित्त को एकाग्र किये बिना उसे पूर्ण रूप से रिक्त नहीं किया जा सकता। और साक्षी भाव का अभ्यास भी इसी प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण अंग है।

पंतजलि कृत धारणा एवं ध्यान की परिभाषा सबसे प्रामाणिक एवं सबसे मान्य है, तथा प्रस्तुत लेख के लिए उसे ही आधार के रूप में स्वीकार किया गया है।

देशबन्धश्चितस्य धारणा ।३ : १
तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ ३ : २

अर्थात्—चित्त को एक स्थान में बाँधकर रखना धारणा है। तथा उसी स्थान पर प्रत्यय की एकतानता ध्यान कहलाती है।

देश अथवा ध्यान के स्थान विशेष एवं प्रत्यय विशेष के भेद से ध्यान अनेक प्रकार के हो सकते हैं। अतः इन दोनों को भली भाँति समझ लेना आवश्यक है। ये दो ध्यान 'कहाँ' करना तथा 'किसका' करना इन दो प्रश्नों का उत्तर प्रदान करते हैं।

ध्यान की पूर्व भूमिका--धारणा

पांतजल योग के आठ अंगो में से प्रथम पांच बहिरंग तथा अन्तिम तीन अन्तरंग योग कहलाते हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार, ये पाँच बहिरंग साधन; धारणा, ध्यान तथा समाधि रूपी अन्तरंग योग के लिए साधक को प्रस्तुत करते हैं। धारणा, ध्यान और समाधि परस्पर सम्बन्धित हैं, तथा पूर्व की अपर में परिणति होती है। धारणा ध्यान में तथा ध्यान परिपक्व होने पर समाधि में परिणत होता है।

सामान्यतः हमारा मन पूर्ण रूप से अनियंत्रित होता है, तथा इन्द्रियों के पीछे ही दौड़ता रहता है। अगर नेत्रों से कोई दृश्य देखा तो मन उस दृश्य की तरफ दौड़ पड़ता है। ध्वनि सुनने पर हमारे कान उस स्थान पर पहुँच जाते हैं जहाँ से ध्वनि आ रही है। इसके अतिरिक्त भी मन ऑफिस, बाजार, बम्बई, कलकत्ता न जाने कहाँ-कहाँ भटकता रहता है! नाना स्थानों में भटक रहे मन को एक स्थान, एक केन्द्र अथवा एक 'देश' में निबद्ध करना साधक का पहला कार्य है, तथा यही धारणा कहलाता है।

किस स्थान में मन को एकाग्र किया जाय? शास्त्रों में मानव देह में विभिन्न चक्रों का वर्णन है। गुदा मूल से लेकर मस्तक (सहस्रार) तक कुल सात चक्रों का उल्लेख तंत्र-शास्त्रों में पाया जाता है। इनमें से हृदय कण्ठ, भ्रूमध्य ये तीन स्थान धारणा के लिए प्रशस्त हैं। हृदय तो सर्वश्रेष्ठ स्थान है तथा साधक को सर्व प्रथम मन को हृदय में केन्द्रित करने के प्रयत्न से प्रारंभ करना चाहिए।

इन चक्रों के अतिरिक्त व्यास देव पांतजल योग सूत्र पर अपने भाष्य में नासिकाग्र, जिह्वाग्र, जिह्वामूल, तालु, आदि का भी उल्लेख करते हैं। इन स्थानों पर मन को निबद्ध करने से, शीघ्र ही दिव्य गन्ध, दिव्य शब्द (ध्वनि) दिव्य रस आदि की अनुभूति हो सकती है, जिससे साधक को योगशास्त्र के प्रति आस्था उपजती है।

भक्ति के सन्दर्भ में अपने इष्ट की लीला का चिन्तन करना भी एक प्रकार की धारणा है। श्रीकृष्ण

उपासक अपने चिन्तन को भगवान के वृन्दावन जीवन में घटी घटनाओं तक ही सीमित रखे, मन को उस सीमा के बाहर न जाने दे। देश-काल एवं नाम-रूप से बद्ध हमारा मन विविधता चाहता है, तो क्यों न उसे भगवद्लीला का देश, उनके जीवन का कार्यकाल एवं उनके नाम व रूप का चिन्तन प्रदान करें! क्या मन को विचरण के लिए इतना पर्याप्त नहीं है? इस प्रक्रिया में भी मन देशबद्ध हो जाता है।

हृदयादि-स्थानों अथवा नासिकाग्र आदि विन्दुओं में मन को एकाग्र करना प्रारम्भिक स्थिति में आसान नहीं है। इन स्थानों में मन को लाने के लिए उसे अन्तर्मुखी करना आवश्यक है, जो इन्द्रियों का अनुसरण करनेवाले बहिर्गमनाभ्यस्त मन के लिए कठिन होता है। अगर मन भीतर की ओर, हृदय में आ भी जाए, तो वहाँ टिकता नहीं। गुदामूल, नाभि आदि के निम्न-केन्द्र जो भोग से सम्बन्धित हैं तथा जो सक्रिय एवं प्रबल रहते है, मन को नीचे की ओर खींचते हैं! यही कारण है कि चित्त शुद्धि एवं विषयासक्ति का त्याग किये बिना धारणा एवं ध्यान में प्रवृत्त होना फलप्रद नहीं होता। यही नहीं, साधक के लिए यह एक मानसिक तनाव का कारण होता है। इसीलिए, योगशास्त्र में धारणा, ध्यान एवं समाधि की पूर्व भूमिका के रूप में यम, नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार का विषद् वर्णन किया गया है। कभी-कभी निम्न चक्रों के तनाव से निवृत होने पर मन हृदय तथा ऊपर के स्थानों पर भटकता है। कभी कण्ठ में तो कभी भ्रूमध्य या सहस्रार में। यह भी एक प्रकार का व्यवधान है जिसे बलपूर्वक मन को हृदय में स्थिर करके दूर करना चाहिए।

ध्यान का श्रेष्ठ स्थान—हृदय

श्रीरामकृष्ण का कथन है कि भक्त का हृदय भगवान् का बैठकखाना है। जिस प्रकार एक जमींदार अपनी जमींदारी में सभी स्थानों में आ-जा सकता है, लेकिन विशेषकर उससे मुलाकात उसके बैठकखाने में होती है, उसी तरह सर्वभूतों में होते हुए भी हृदय में भगवान् का प्रकाश सबसे अधिक होता है। इसीलिए श्रीरामकृष्ण उसे, ध्यान के लिए 'डंका मारा स्थान' कहते थे। उपनिषदों में भी हृदय को आत्मा की अवस्थिति के स्थान के रूप में निर्दिष्ट किया गया है, तथा हृदय में ध्यान का निर्देश है।

> यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि।
> दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः।
> मनो मयः प्राणशरीर नेता प्रतिष्ठितोऽन्ने
> हृदयं सन्निधाय॥

लेकिन हृदय से भौतिक मांस पिण्ड नहीं समझना चाहिए। यह तो (हमारे) सीने के बीच का वह स्थान है जहाँ हमें संवेदनाओं का अनुभव होता है। हम बोल-चाल की भाषा में भी अपनी भावनाओं को हृदय के साथ जोड़कर प्रायः कहते हैं: 'मेरा हृदय आनन्द से भर गया' या 'उसने मेरे दिल को दुखाया है' इत्यादि। कभी-कभी हम मनोवेग के क्षणों में अपने हृदय पर हाथ ही रख देते हैं। विषाद अथवा सौमनस्य, आनन्द अथवा खेद का अनुभव सीने में जिस स्थान पर होता है वही आध्यात्मिक हृदय है। इस स्थान का निर्धारण आसानी से किया जा सकता है। यदि साधक को कठिनाई हो तो हर्ष अथवा विषाद के अवसरों पर संवेदन के अनुभव का अनुसरण कर हृदय का स्थान निर्धारित करना चाहिए।

हृदय—कमल

हृदय में चित्त को आसानी से एकाग्र करने के लिए वहाँ एक कमल की कल्पना की जाती है, जो लाल या सफेद रंग का तथा आठ या बारह पंखुड़ियों वाला हो। एक बार हृदय का स्थान निर्धारित होने के बाद वहां एक कमल की धारणा करने से ध्यान की आगे की प्रक्रिया सरल हो जाती है।

शास्त्रों में 'हृदयाकाश' (हृदय स्थित आकाश) का भी उल्लेख पाया जाता है। (आकाश का अर्थ है रिक्त

स्थान) सामान्यत: हम आकाश को रिक्त स्थान के अर्थ में ही समझते हैं। घनीभूत स्थूल पदार्थों में भी स्थान अथवा आकाश है, यह समझना या इसकी धारणा करना कठिन होता है। लेकिन सत्य तो यह है आकाश सर्वत्र विद्यमान है, रिक्त स्थान में भी और स्थूल पदार्थ में भी। जिस हृदय में हम ध्यान करना चाहते हैं, वहाँ भी स्थान, आकाश तो विद्यमान है ही, भले हो वह रक्त-मांसादि से भरा हुआ क्यों न हो और जब हम रक्त मांस के पिण्ड हृदय के बदले आध्यात्मिक हृदय की कल्पना कर रहे हैं, तो उस स्थान पर मांसादि के बदले रिक्त आकाश की कल्पना आसानी से की जा सकती है।

अभ्यास के द्वारा जब साधक अपने हृदय में एक पद्म तथा उसके ऊपर एक रिक्त स्थान अथवा हृदयाकाश की धारणा करने में सक्षम होता है, तब वह अगली महत्वपूर्ण सीढ़ी पर आरूढ़ होता है। दूसरे शब्दों में, 'ध्यान कहाँ करें?' इस प्रश्न का विवेचन करने के बाद इस प्रश्न का उत्तर जानने का प्रयत्न करें कि "ध्यान किसका करें?"

ध्यान के प्रत्यय का चुनाव

जिस विषय का ध्यान किया जाता है, उसे योग की परिभाषिक भाषा में प्रत्यय कहते हैं! ये प्रत्यय ज्योतिशिखा, सूर्य, पुष्प आदि स्थूल पदार्थों से लेकर घंटा ध्वनि, मंत्र, सुख अथवा दु:ख के संवेदन एवं करुणा, दया आदि सूक्ष्म भाव तक अनेक हो सकते हैं। वस्तुत: संसार की ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसका ध्यान न किया जा सके। प्रत्यय भेद से ध्यान के अनेक प्रकार हो सकते हैं; तथा उसके फल भी प्रत्यय के अनुरूप (ही) होते हैं। पांतजल योग सूत्र के तृतीय अध्याय, विभूति-पाद में कार्यरूप, मैत्री, हस्तिबल, सूर्य, चन्द्र नक्षत्रादि स्थूल एवं संस्कार समूह, प्रत्यय आदि सूक्ष्म तत्वों पर ध्यान तथा उसके परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाली विभूतियों का विशद वर्णन है। अतः साधक अपनी अभिरुचि के अनुसार किसी भी विषय को ध्यान के प्रत्यय के रूप में चुनकर अग्रसर हो सकता है। सैद्धान्तिक रूप से यह बात सत्य होते हुए भी साधक की मनोवृत्ति, पूर्व संस्कार एवं मानसिक गठन प्रत्यय निर्धारण को विशेष रूप से प्रभावित करता है। बहुत से लोगों की निराकार ध्यान में रुचि होने पर भी अधिकांश लोग उसके अधिकारी नहीं होते। किसी के लिए ज्योति का ध्यान अधिक उपयोगी सिद्ध होता है, तो कोई साकार मानवी रूप का ध्यान कर शीघ्र सिद्धि लाभ करते हैं। व्यक्ति-विशेष के लिए किस प्रकार का ध्यान उपयुक्त होगा, यह निर्णय करना विशेषज्ञ का कार्य है। आध्यात्मिक जगत् के ये विशेषज्ञ ही सद्गुरु होते हैं। सद्गुरु के निर्देश के अभाव में भी हम किसी-न-किसी प्रकार के ध्यान का अभ्यास बिना किसी भय के, सफलतापूर्वक कर सकते हैं। पांतजलि अपने योग सूत्रों में, तथा स्वामी विवेकानन्द अपने प्रवचनों में जिन ध्यानों का उल्लेख करते हैं, उनमें से किसी का भी प्रयोग साधक स्वयं करके उसकी उपयोगिता एवं उपयुक्तता का निर्धारण कर सकता है। प्रत्यय के चुनाव के लिए प्रारम्भ में विभिन्न प्रत्ययों को लेकर कुछ प्रयोग भले ही किये जायँ, लेकिन एक बार प्रत्यय-निर्धारण होने के बाद उसे बदलना नहीं चाहिए, अन्यथा कोई लाभ नहीं होगा। कोई व्यक्ति कुआँ खोदना प्रारम्भ करे। कुछ दूर खोदने पर चट्टान निकल आने पर वह उस स्थान को छोड़कर दूसरी जगह खोदने लगे। दूसरे स्थान पर कुछ दूर जाने पर रेत आ जाय, तो वह उस स्थान को छोड़कर तीसरे स्थान पर खोदने लगे। जिस प्रकार बार-बार स्थान बदलने वाला व्यक्ति कभी भी कुआँ पूरा खोदकर जल प्राप्त नहीं कर सकता, उसी प्रकार प्रत्यय को बार-बार बदलनेवाला व्यक्ति ध्यान में प्रतिष्ठा एवं सिद्धि लाभ नहीं कर सकता।

ध्यान के विभिन्न प्रकारों का विभाजन एवं विस्तृत वर्णन करने के पूर्व एक बात स्पष्ट रूप से कह देना आवश्यक है। जैसा कि प्रारम्भ में कहा जा चुका है ध्यान का अभ्यास विभिन्न उद्देश्यों से किया जा सकता है। मन की एकाग्रता बढ़ाने, शारीरिक मानसिक

स्वास्थ्य के लिए, ऋद्धि-सिद्धि अथवा भौतिक समृद्धि के उद्देश्य से किये गये ध्यान के लिए कोई भी प्रत्यय चुना जा सकता है। प्रस्तुत लेख में हम ध्यान के उन्हीं विभेदों का वर्णन करेंगे जिनका उद्देश्य आध्यात्मिक है। वैसे आध्यात्मिक विषयों के ध्यान से भी चित्त की एकाग्रता एवं शारीरिक एवं मानसिक शान्ति प्राप्त होती ही है।

ध्यान के प्रकार

पंतजलि ने योग सूत्र के प्रथम अध्याय में निम्न प्रकार के ध्यानों का वर्णन किया है :

(१) विशोका ज्योति का ध्यान

(२) वीतराग महापुरुषों के विषय में ध्यान

(३) स्वप्न, निद्रा में प्राप्त ज्ञान का आश्रय लेकर किया गया ध्यान।

स्वामी यतीश्वरानन्दजी के अनुसार ध्यान तीन प्रकार के हो सकते हैं : (१) रूप ध्यान (२) गुण ध्यान (३) स्वरूप ध्यान। साधक प्रारम्भ रूप ध्यान से करता है तथा आगे बढ़ने पर गुण ध्यान और अन्त में स्वरूप ध्यान करने में समर्थ होता है।

जैन शास्त्रों में सभी एकाग्र चिन्तन को, चाहे वह अशुभ हो या शुभ, ध्यान की संज्ञा दी गयी है। आर्त्त तथा रौद्र ध्यान दुःख, विषाद, क्रोध तथा हिंसादि से संयुक्त होने के कारण त्याज्य हैं, जबकि धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान नामक दो ध्यान शुभ एवं करणीय हैं। धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान के भी चार-चार भेद हैं जिनमें से कुछ का वर्णन यथा स्थान किया जायेगा।

(अगले अंक में समाप्य)

*

स्वामी अद्भुतानन्द (लाटू महाराज) की जीवन-कथा

—श्री चन्द्रशेखर चट्टोपाध्याय
अनुवादक—स्वामी विदेहात्मानन्द
रामकृष्ण मठ, नागपुर

[लालटू की व्याकुलता का एक अन्य पक्ष, श्रीरामकृष्ण देव का दर्शन, अवधूत नित्यगोपाल की सेवा, सेव्यसेवक-भाव की उद्दीपना, परमहंसदेव का दक्षिणेश्वर आगमन तथा भक्तगोष्ठी का पुनर्मिलन।]

हम पहले ही कह आये हैं कि लालटू बीच-बीच में दक्षिणेश्वर को जाया करता था, यही नहीं, वरन् ठाकुर जब दक्षिणेश्वर में न थे, गाँव को गये थे, तब भी लालटू वहाँ जाकर पंचवटी तथा गंगा तट पर बैठा रहता था। एक दिन रामलाल दादा ने उसे वहीं पर देखा। रामलाल दादा पहले से ही बालक को जानते थे। गंगातट पर निर्जन में उसे मौन निस्पन्द आँसू बहाते देखकर रामलाल दादा के मन में विविध सन्देहों का उदय हुआ। उन्होंने सोचा कि शायद रामबाबू ने लालटू को किसी कारण बुरा-भला कहा है, इसीलिए दुःखी होकर बालक यहाँ आकर रो रहा है। परन्तु इस विषय में पूछने पर उन्हें अपनी गलती समझ में आ गयी। रामलाल दादा के मुख से मैंने जो सुना है, वही लिपिबद्ध करता हूँ :—

"लड़के को देखा कि गंगातट पर बैठा रो रहा है—

कारण पूछने पर पता चला कि परमहंसदेव के लिए उसका मन बड़ा विकल हो रहा है। बालक की धारणा है कि परमहंसदेव में अद्भुत क्षमता है, वे इच्छा मात्र से ही सारे कार्य सम्पन्न कर सकते हैं। इसी धारणा के वशीभूत होकर बालक उन्हें एकान्त में पुकार रहा है कि वे सशरीर आकर उसके सम्मुख उपस्थित हों। बालक ने किसी से सुन रखा है कि ठाकुर दक्षिणेश्वर में नित्य अवस्थान करते हैं—गाँव को जाने पर भी वे दक्षिणेश्वर में हैं और वहाँ उनका दर्शन भी मिलेगा। बालक यही विश्वास लेकर दोपहर से प्राय: सन्ध्या के पूर्व तक बैठा रहा। साँझ हो आयी देखकर मैंने उसे घर जाने को कहा। मेरी बात सुनकर बालक ने क्या कहा जानते हो?—'मैंने ठीक सुन रखा है कि वे यहाँ हैं - मैं उनसे मिले बिना न जाऊँगा।' मैं जितना भी कहता—'नहीं रे, वे तो गाँव को गये हैं', बालक उतनी ही दृढ़तापूर्वक कहता—'आपको मालूम नहीं, परमहंस महाशय यहीं हैं।' बालक का यह अटल विश्वास देखकर मैं और कुछ भी न कह सका। सन्ध्या-आरती करने मन्दिर की ओर चल पड़ा। मन्दिर में आकर स्मरण हुआ कि लालटू को माँ का प्रसाद देना नहीं हुआ। प्रसाद लेकर जब मैं उसके निकट पहुँचा तो देखता हूँ कि वह न जाने किसे प्रणाम कर रहा है। कुछ समझ न पाकर मैं चुपचाप खड़ा रहा। दो-तीन मिनट पश्चात् बालक मुझे अपने सामने पाकर विस्मित रह गया। उसने पूछा—'परमहंस महाशय कहाँ गये?' मैं तो अवाक् रह गया। मैं उसे कोई भी उत्तर न दे सका और बालक को प्रसाद देकर मन्दिर को लौट गया।"

पता नहीं, इस घटना को लोग किस भाव से ग्रहण करेंगे। हम मानते हैं कि जो लोग अलौकिकता के विश्वासी हैं उनके मन में यह घटना मात्र विस्मय की सृष्टि करेगी, परन्तु जो लोग अलौकिक शक्ति में विश्वास नहीं रखते, उनके मत में नि:सन्देह यह (घटना) मानसिक दृष्टिभ्रम जैसी प्रतीत होगी। आश्चर्य की बात तो यह है कि हम ठाकुर के जितने भी अन्तरंग भक्तों तथा सेवकों के बारे में जानते हैं, उनमें से प्रत्येक के मुख से ऐसी अलौकिक घटनाओं की बात सुनने में आयी है। इन सब को दृष्टिभ्रम कहते हमें द्विधा होती है—क्योंकि उनके मिथ्या बोलने का कोई कारण या स्वार्थ देखने में नहीं आता।

हम लोग आधुनिक सभ्यता के आलोक में पले हैं! हम युक्ति और विज्ञान को मानते हैं। युक्ति और विज्ञान के परे किसी अलौकिकता में सामान्यत: हम विश्वास नहीं रखते। परन्तु युक्ति व विज्ञान की सहायता से क्या जगत् की सारी वस्तुओं को समझा जा सकता है? युक्ति और विज्ञान की भी एक सीमा है, जिसका उल्लंघन करने की क्षमता उनमें नहीं है। एक मात्र अनुभूति ही युक्ति व विज्ञान की सीमा को पार कर सकती है। तीव्र अनुभूति-वेग से युक्त व्यक्ति के समक्ष तर्क-वितर्क सब कुछ बह जाता है। जिसकी जैसी अनुभूति है, वह वैसी ही युक्ति का प्रयोग करता है। जो विश्वासी हैं, वे विश्वास-प्रतिपादक युक्तियाँ उपस्थित करते हैं, और जो लोग अविश्वासी हैं, वे विश्वास-निरोधक युक्तियों का सहारा लेते हैं। इस प्रसंग में और अधिक चर्चा करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

आधुनिक काल में अधिकांश विचार-प्रणालियाँ कतिपय वैज्ञानिक तथ्यों व विश्वासों को आधार बनाकर चलती हैं। यदि कोई उन तथ्यों व विश्वासों को अस्वीकार कर अन्य किसी अनुभूति पर आधारित धारणा को सत्य माने तो हम उसे पागल या वज्रमूर्ख कहकर प्रचार करते हैं। हमारे इस प्रचार के द्वारा मानवजाति की जो अपरिमित क्षति हो रही है, उसे हम देखकर भी अनदेखा कर देते हैं। विज्ञान के युक्तिवाद को महत्व देकर हम विज्ञानातीत युक्तिवाद को संकुचित कर रहे हैं। युक्ति मनुष्य को कर्म की ओर जितना प्रेरित करता है, हृदय उसकी अपेक्षा अधिक कर्मोन्माद में खींच लेता है। अत: यद्यपि युक्तिवाद की दृष्टि से बालक का परमहंसदेव का दर्शन पाना अस्वीकार करना पड़ता है, तथापि

अनुभूतिवाद की दृष्टि से यह उसके लिए निःसन्देह एक महान् सत्य था।

किसी वस्तु के अभाव में ही उसके प्रति हमारी व्याकुलता जागती है और उसे पाते ही व्याकुलता दूर हो जाती है। प्राप्ति का लोभ ही मनुष्य को पागल बनाये रखता है। लालटू के बारे में भी ठीक यही बात सत्य साबित होती है। ठाकुर का दर्शन पाने के बाद लालटू की व्याकुलता कम नहीं हुई, वरन् बढ़ती ही गयी।

उन दिनों बालक का दैनन्दिन जीवन किस प्रकार बीत रहा था, इस विषय में हमने विविध लोगों से पूछताछ की है। सभी से प्रायः एक ही बात सुनने को मिली—"उन दिनों उसकी आहार-विहार में, आमोद-प्रमोद में रुचि न थी, मालिक के गृह-कार्य में मन न लगता था; निद्रा में हो या जागरण में, उसे चैन नहीं मिलता था। मनुष्य के लिए जो कुछ अत्यन्त आवश्यक हैं, उनकी भी उसे जरूरत नहीं महसूस होती थी।"

बालक में ऐसा परिवर्तन देखकर भक्त रामबाबू भी व्यथित हुए थे। वे लालटू को स्नेह करते थे। उसकी सरलता, निष्कपटता व सेवापरायणता पर वे आकृष्ट हुए थे। अब वे उसकी उत्कण्ठा देखकर भी विस्मित हुए। अपने ही गुरुदेव के प्रति बालक की अचल श्रद्धा देखकर वे और भी मुग्ध हुए थे। इसी कारण घर के कार्यों में अनेक त्रुटियाँ आदि रह जाने पर भी वे लालटू को कुछ कह नहीं पाते थे।

जो स्वयं भक्त हैं, वे भक्त के हृदय का दुःख समझते हैं। रामबाबू स्वयं भी परमहंसदेव के प्रति अतीव भक्तिमान थे, अतः वे भक्तिमान लालटू की व्यथा समझ सके थे। और समझ पाने के कारण ही वे लालटू के प्रति रुष्ट न हो सके थे, बल्कि उनकी इच्छा तो यह थी कि उन दिनों बालक के भगवद्-व्याकुल मन के ऊपर गृहकर्म का बोझ न लादा जाय। उस समय उन्होंने एक अन्य गृहभृत्य की भी नियुक्ति की थी, परन्तु वे लालटू को कर्म से पूर्ण अवकाश न दे सके थे।

इसका कारण यह था कि अवधूत नित्यगोपाल भयानक रोग से पीड़ित होकर उन्हीं के घर पर थे। भीषण टायफाएड का रोग अवधूत को लेकर जीवन-मृत्यु का खेल खेल रहा था। अवधूत एक पहुँचे हुए साधक थे। साधनावस्था में उन्हें मुहुर्मुहुः भाव हुआ करते थे; भावावेग में स्वेद, अश्रु, कम्प, गद्गद् आदि अवस्थाएँ भी आया करती थीं। रोगजीर्ण अवस्था में भी उनमें बीच-बीच में ऐसे भाव का आवेग दीख पड़ता था। इस वजह से घर के सभी लोग भीत व चिन्तित हो गये थे। ऐसे रोगी की सेवा में रामबाबू ने लालटू को नियुक्त किया और यह भी बतला दिया कि रोगी में जब कभी सात्त्विक विकार आदि के लक्षण दीख पड़े, तब-तब उन्हें 'नाम'—श्रवणरूपी उत्कृष्ट औषधि देनी होगी। 'नाम' में ही भाव की स्थिति है और 'नाम' में ही भाव की मुक्ति है। इसलिए 'नाम' सुनाते समय लालटू बड़ी मुश्किल में पड़ जाता था। भावविभोर अवस्था में नाम सुनते-सुनते अवधूत को चेतना लौट तो आती थी, परन्तु नाम सुनते-सुनते पुनः उनकी भावविह्वल अवस्था हो जाती। इस प्रकार के रोगी की परिचर्या का उत्तरदायित्व पाकर लालटू को दिन रात नाम जपना पड़ता था। मुख में सर्वदा उनका नाम लगा ही रहता था। (क्रमशः)

जिज्ञासु के प्रश्न : मेरे उत्तर

—शितिकण्ठ बोधिसत्व

प्रश्नकर्त्ता :—उपासना में मेरा मन किसी एक देव या देवी विग्रह में क्यों नहीं केन्द्रित होता ?

उत्तर :—तुम अपने को उपासक मानकर ही तो उपासना करते हो ! तुम किसके उपासक हो ? सत्य के, ईश्वर के, ब्रह्म के, भगवान् के या भगवती के ? अपने उपास्य की कोई पूर्व धारणा तुम्हें है ?

प्रश्नकर्त्ता :—क्या उक्त सभी शब्द जो उपास्य के लिए आए हैं, करीब-करीब पर्यायवाची नहीं हैं ?

उत्तर :—हाँ, ये सभी पर्यायवाची हैं। करीब-करीब नहीं, पूरा-पूरा। लेकिन क्या इनके पर्यायवाची होने का अनुभव तुमको है ? अगर आधुनिक शिक्षा से प्राप्त मानसिक विकास के द्वारा बौद्धिक स्तर पर तुम इन्हें पर्यायवाची समझते भी हो तो यह पर्याप्त नहीं है, फिर भी एक ही सत्य के अनेक नाम रूप हैं—इस तथ्य का बौद्धिक अनुभव भी अत्यन्त उपयोगी है। इससे तुममें उपास्य के एकत्व की धारणा का विकास होता है। सारे उपास्य एकमेव नहीं है क्या ?

प्रश्नकर्त्ता :—यह धारणा तो है किन्तु परिस्थितियों के बदलने से, अभावग्रस्त नीरस चित्त भूमि में बुद्धि की यह धारणा जीवन्त और स्थिर नहीं रहती। जब सोचता हूँ कि महापुरुषों के जीवन में उपास्य के इस एकत्व की धारणा स्थिर और ज्वलंत बनी रहती है, तब लगता है कि बौद्धिक शक्ति से और भी गहरी और चिन्मय शक्ति इस धारणा को सम्भालती है। क्या ऐसा है महाराज ?

उत्तर :—हाँ अवश्य है। बौद्धिक शक्ति से 'गहरी' और 'चिन्मय' शक्ति उक्त शक्ति की कारण रूपा है। जबतक बुद्धि स्थिर नहीं होती बौद्धिक शक्ति का भी पूर्ण सदुपयोग नहीं हो पाता। अतः बुद्धि से अतीत और उसकी कारणरूपा योगमाया शक्ति का आश्रय ग्रहण करो।

प्रश्नकर्त्ता :—महाराज, यह कैसे होगा ? जिसका आश्रय लेने को बता रहे हैं, समझ में भी नहीं आता।

उत्तर :—फिर समझने की बात कर रहे हो। यह तो तय हो ही चुका है कि बौद्धिक बोध-सीमा से अतीत और उसकी संचालिका शक्ति की शरण लेनी होगी। इससे बुद्धि स्थिर होगी। तब शास्त्र या संतों के संकेत अनुभवगत होंगे। लेकिन इसके लिए सीमित अहंभाव की बौद्धिक बोध-सीमा के अतीत या उसकी गहराई में उतरना होगा। तब अन्तर्मौन में बुद्धि स्थिर होगी। उस समय उपास्य का एकत्व भी ज्वलंत रूप से प्रत्यक्ष होगा।

प्रश्नकर्त्ता :—महाराज, तब तो प्रकारान्तर से आपका संकेत यही है कि साध्य को उपलब्ध होने के लिए साधन की शरण में जाओ।

उत्तर :—प्रकारान्तर से नहीं, सीधे-सीधे भी।

प्रश्नकर्त्ता :—साधना की शरण में जाने का क्या तात्पर्य है ?

उत्तर :—अपने में निहित सत्य, ईश्वर या आत्म की अभिव्यक्ति के लिए किसी पथ का अनुसरण करना होगा न ! अपनी रुचि और स्वभाव के अनुसार चुने हुए पथ का अनुसरण करने से ही उस साधना का विकास होता है।

समाचार और सूचनाएँ

रामकृष्ण मठ, इलाहाबाद का वार्षिकोत्सव

इलाहाबाद, १७ मार्च। भगवान् श्रीरामकृष्ण देव की १५१वीं जन्म तिथि के अवसर पर स्थानीय रामकृष्ण मठ का वार्षिकोत्सव १२ से १६ मार्च तक सोल्लास मनाया गया। इस अवसर पर श्रीरामकृष्ण देव के विशेष पूजन, प्रसाद-वितरण, साधु-सेवा, नारायण-सेवा एवं फिल्म-प्रदर्शन आदि के अतिरिक्त १४ से १६ मार्च तक जन-सभा का भी आयोजन किया गया।

१४ मार्च की जन-सभा में श्री माँ सारदा के जीवन एवं संदेश पर प्रकाश डाला गया। अध्यक्ष थे रामकृष्ण मिशन, वाराणसी के स्वामी ब्रह्मेशानन्दजी महाराज। वक्ता थे—स्थानीय रामकृष्ण मठ के अध्यक्ष, स्वामी हर्षानन्दजी महाराज और विवेक शिखा के सम्पादक डॉ० केदारनाथ लाभ।

स्वामी हर्षानन्दजी महाराज ने माँ सारदा के जीवन की विभिन्न विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए कहा कि याज्ञवल्क्य की दो पत्नियों में कात्यायनी तो धन से ही संतुष्ट हो गयी पर मैत्रेयी ने आत्मतत्त्व की प्राप्ति को महत्व दिया। लेकिन श्रीमाँ स्वयं अध्यात्म की निर्वात-निष्कंप अखंड दीप शिखा थीं। श्रीरामकृष्ण ने कहा था—'वह सरस्वती है।' स्वामी विवेकानन्द ने कहा था कि पश्चिमी देशों में नारी केवल पत्नी हैं किन्तु भारत में वह केवल माँ है। इसीसे श्रीरामकृष्ण ने श्रीमाँ की षोडशी पूजा की और दोनों मिलकर एक हो गये या एक ही दो हो गये। स्वामी हर्षानन्दजी ने आगे कहा कि एक अर्थ में माँ श्रीरामकृष्ण से श्रेष्ठ थीं। श्रीरामकृष्ण तो अपने शिष्यों के चयन में सतर्क रहते थे पर माँ तो कोई भेद ही नहीं करती थीं। उनकी कृपा सब पर समान थी।

डॉ० केदारनाथ लाभ ने वर्तमान युग की नारियों के स्वरूप एवं समस्याओं की विस्तृत चर्चा करते हुए कहा कि श्रीमाँ आधुनिक विश्व की नारियों के लिए एकमात्र श्रेष्ठतम आदर्श हैं। वे सीता के धैर्य, सावित्री के साहस और दमयन्ती के मानव-प्रेम की त्रिवेणी हो गयी थीं।

अपने अध्यक्षीय सम्बोधन में स्वामी ब्रह्मेशानन्दजी ने श्रीमाँ के गुणों की चिन्तनपूर्ण व्याख्या करते हुए कहा कि वे ईश्वर के मातृरूप के प्रचारार्थ अवतरित हुई थीं। श्रीमाँ शुद्ध कृपामयी थीं। उनका कथन था कि कर्म-बन्धन से मुक्त होने के लिए दाता का स्थान लो, सबको प्रेम करो। प्रेम के आधार पर एक नये समाज की रचनाकर वे नया धर्मचक्र प्रवर्तन करना चाहती थीं।

१५ मार्च की जन-सभा के अध्यक्ष थे रामकृष्ण मिशन, रायपुर के स्वामी निखिलात्मानन्दजी महाराज। वक्ता थे इलाहाबाद विश्वविद्यालय के मनोविज्ञान विभागाध्यक्ष प्रो० डॉ० आर० के० नायडू, कलकत्ता विश्वविद्यालय के बंगला विभागाध्यक्ष प्रो० शंकरी प्रसाद वसु और स्वामी ब्रह्मेशानन्दजी।

डॉ० नायडू ने अपने अध्यापकीय अनुभव के आधार पर बताया कि ग्रामीण परिवेश से आनेवाले छात्र हीन मनोदशा के होते हैं। उनके लिए स्वामी विवेकानन्द के उपदेश बड़े सार्थक हैं। स्वामीजी ने बताया कि तुम्हारे यहाँ जो है, वह मूल्यवान है। अपने चित्र में वे सिंह के समान खड़े, आग की भाँति तेजोद्दीप्त लगते हैं। उनकी रग-रग से भारतीयता टपकती है। इसे देखकर हमारी हीन-भावना समाप्त होती है। स्वामीजी बिना विशेष संसाधन के अमेरिका गये थे। इससे यह सिद्ध होता है कि शुद्ध संकल्प से मनुष्य कुछ भी कर सकता है। आज के छात्रों की रुचियाँ सीमित रहती है। पर स्वामीजी का व्यक्तित्व बहुआयामी था। डॉ० नायडू ने कहा कि आधुनिक छात्रों के लिए स्वामीजी का जीवन और संदेश सर्वोत्तम आदर्श हो सकते हैं।

सभा को सम्बोधित करते हुए स्वामी ब्रह्मेशानन्द-जी ने कहा कि स्वामीजी व्यावहारिक जीवन में वेदान्त की शिक्षा देने आये थे। उनके उपदेशों का सार यह है कि प्रत्येक जीव मूलतः दिव्य है और जीवन के प्रत्येक स्तर पर उसकी अभिव्यक्ति करनी चाहिए। प्रत्येक जीव के साथ शिव जैसा व्यवहार करना चाहिए तथा अपने देवत्व को स्वीकार करने के लिए तैयार रहना चाहिए।

स्वामी विवेकानन्द के हिन्दी ज्ञान और इलाहाबाद आगमन की चर्चा करते हुए शंकरी बाबू ने कहा कि फ्रायड के कामादर्श और मार्क्स के कांचनादर्श के विरुद्ध एक व्यक्ति खड़े हुए थे—श्रीरामकृष्ण। स्वामीजी ने उनसे सीख लेकर हमें अभय में रहना और अपना माथा ऊँचा रखना सिखाया।

अपने अध्यक्षीय भाषण में स्वामी निखिलात्मानन्दजी महाराज ने स्वामीजी के विविध गुणों पर अत्यन्त प्रभावपूर्ण प्रकाश डालते हुए कहा कि धर्म को इस जीवन में नहीं उतारना ही हमारे पतन का कारण है। स्वामी-जी ने हमें धर्म-जीवन की प्रेरणा दी, राष्ट्र-प्रेम की सीख दी, मनुष्य बनने की कला दी, और वह विज्ञान दिया जिससे हम अपनी मुक्ति और जगत का हित साधन साथ-साथ कर सकते हैं।

१६ मार्च को श्रीरामकृष्ण देव : जीवन एवं संदेश विषय पर जन-सभा में प्रकाश डाला गया। इलाहाबाद उच्च न्यायालय के अधिवक्ता श्री पालक बसु ने अपने भाषण में कहा कि आज का मनुष्य संशय से ग्रस्त है। किन्तु श्रीरामकृष्ण ने हमें संशय से मुक्ति दिलायी। उन्होंने बताया कि जो ठाकुर की शरण में जायगा वह संशय से मुक्त हो जायगा।

डॉ० केदारनाथ लाभ ने वर्तमान परिवेश में श्रीराम-कृष्ण के जीवन और संदेशों की सार्थकता पर प्रकाश डालते हुए कहा कि वर्तमान भारत को अपने तात्कालिक मंगल, स्वर्णिम भविष्य और सर्वाङ्गीण विकास के लिए श्रीरामकृष्ण के उपदेशों का अवलम्ब ग्रहण करना ही होगा।

स्वामी निखिलात्मानन्दजी महाराज ने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि विज्ञान की दार्शनिकता के बीच काल मार्क्स ने ईश्वर को नकारा था। किन्तु श्रीरामकृष्ण ने बताया कि ईश्वर है और उनके दर्शन के लिए व्याकुलता चाहिए। श्रीरामकृष्ण स्वयं धर्म और ईश्वर के जीवंत स्वरूप थे।

प्रत्येक दिन सभा के आरंभ में बंगलोर के श्री एन० कृष्ण स्वामी ने मधुर सुर में आधे घंटे तक भजन प्रस्तुत किया। ब्रह्मचारी निर्लिप्त चैतन्य ने स्वागत-भाषण एवं श्री जी० एन० राय चौधरी ने धन्यवाद ज्ञापन किया। श्री वी० राघवन, बंगलोर ने नित्य विभिन्न फिल्मों का सभा के अन्त में प्रदर्शन किया।

रामकृष्ण आश्रम, छपरा में रामकृष्ण जयंती

छपरा, १८ मार्च स्थानीय रामकृष्ण आश्रम में भगवान् श्रीरामकृष्ण की १५१वीं जयन्ती धूम-धाम से मनायी गयी। १२ मार्च को श्रीरामकृष्णदेव के विशेष पूजन के उपरान्त चंडी पाठ हुआ। प्रायः दो हजार लोगों को खिचड़ी का भोजन कराया गया। संध्या में श्री यमुना प्रसाद, अधिवक्ता की अध्यक्षता में एक सभा हुई जिसमें श्री अमियनाथ चटर्जी, प्रो० सुरेश कुमार मिश्र और प्रो० ललित कुमार सिन्हा ने श्रीरामकृष्ण के जीवन के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला। श्रीराम किशोर श्रीवास्तव ने धन्यवाद ज्ञापन किया।

१८ मार्च को स्थानीय थियोसोफिकल सोसाइटी हॉल में पशुपालन, सारण के क्षेत्रीय निदेशक डॉ भोला नाथ वर्मा की अध्यक्षता में सभा हुई जिसका उद्घाटन सारण प्रमंडल के आयुक्त श्री के० अरुमुगम ने किया। बेलुड़ मठ, सारदापीठ के अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी स्मरणानन्द जी महाराज ने "आदर्श शिक्षक श्रीरामकृष्ण" विषय पर सारगर्भ एवं विद्वत्तापूर्ण भाषण देते हुए ठाकुर के उपदेश देने की विलक्षण प्रक्रिया पर प्रकाश डाला। अपने अध्यक्षीय भाषण में डॉ वर्मा ने कहा कि पात्र के अनुसार शिक्षा देना ही सही शिक्षा है। इस अवसर पर पटना रामकृष्ण मिशन के सचिव श्रीमत् स्वामी वेदान्त न्दजी महाराज की उपस्थित से और भी गरिमा आ गयी थी। डॉ० केदारनाथ लाभ ने अतिथियों का स्वागत किया और डॉ रामदेव सिंह ने धन्यवाद ज्ञापन। श्याम किशोर और सुमन कुमार तिवारी ने शान्तिपाठ और भजन प्रस्तुत किये। ★

Give up jealousy and conceit. Learn to work unitedly for others. This is the great need of our country.

— Swami Vivekananda

With Best Compliments From :

HINDUSTAN MOTORS LIMITED

MANUFACTURERS OF :

Contessa and Ambassador Cars, Hindustan Driveaway Chassis
Hindustan Normal Control & Full Forward Control Trucks
Passenger Coach, Mini Bus, Trekker and Porter
Excavators, Electric Overhead Travelling Cranes Upto 400
Tonnes Capacity, Dumpers, Front End Loaders,
Crawler Tractors, Scrapers

★

Registered Office at

9/1 R. N. MUKHERJEE ROAD, CALCUTTA-700 001

Factories at

HINDMOTOR (West Bengal) TRIVELLORE (Tamil Nadu)